श्री भागवत-दर्शन :—

भागवती कथा

सताईसवाँ खण्ड

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा'॥

लेखक—
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक—
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी प्रयाग

तृतीय संस्करण]   माघ सम्वत् २०११ वि० [illegible] मूल्य :

मुद्रक—राजाराम शुक्ल सङ्कीर्तन प्रेस, वंशीबट वृन्दावन।

विषय सूची

भागवती कथा खण्ड—२७

माता कौशल्या का राम को दूध पिलाना

भूमिका

मृत्यु का भय

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्–
लोकान्सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य–
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥*

(श्री भा० १० स्क० ३ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

मरन धरम यह जीव जगत कहँ इतउत भटकत ।
पाइ विपय सुख छनिक भूलि तिनहीमहँ अटकत ॥
समुझत विपयनि सत्य न कछु तिन महं सुख पावे ।
यों ही वितवत समय मृत्यु इक दिन चट आवे ॥
मृत्यु जनम के संग भई, जो जनम्यो सो मरेगो ।
हरि सुमिरन जो करेगो, मृत्यु मूड़ पग धरेगो ॥

---

*भगवान् की स्तुति करती हुई भगवती देवकी कह रही हैं—"हे आदि पुरुष प्रभो ! मरणधर्मा प्राणी मृत्यु रूप कराल व्याल से भयभीत होकर सम्पूर्ण लोको मे भटकता फिरता है, किन्तु इसे कहीं शान्ति प्राप्त नही होती । कही भी इसे ऐसा स्थान नही मिलता जहा मृत्यु का भय न हो । भाग्यवश यदि किसी प्रकार आपके चरणों की इसे शरण मिल जाय तो उसे पाकर यह सुख की नींद सोता है मृत्यु इससे दूर हट जाती है।"

जिसने जन्म लिया है वह मरेगा—जातस्यहि ध्रुवोमृत्युः—यह सिद्धान्त अटल है, अपरिहार्य है, इसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता, मेट नहीं सकता, टाल नहीं सकता और असत्य भी नहीं बना सकता। आज मरो या सौ वर्ष पश्चात् जन्मधारी को मरना अवश्य पड़ेगा—अद्यावाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः—इसे सभी शास्त्र एक स्वर से कह रहे है।

ऐसी ध्रुव वस्तु से ही प्राणी सबसे अधिक डरता है। जहाँ मैं रहता हूँ, मेरे समीप ही स्मशान घाट है। दस-दस बीस-बीस कोस के मृतक पुरुष यहाँ दाह संस्कार के निमित्त आते है। ऐसा एक भी दिन नहीं होता, जिस दिन २-४-१०-२० शव यहाँ न आते होंगे। बहुत से निर्धन पुरुष ऐसे होते है जिन पर जलाने को पैसा नहीं होते,वे वैसे ही गंगाजी मे मृतक को छोड़ जाते हैं। स्मशान घाटके बडे भारी-भारी कछुए कुछ ही क्षणोंमें उसे समाप्त कर जाते है। कभी-कभी कुत्ते शव को तीर पर खींच लाते हैं एक ओर तो उन्हें कुत्ते चीथते है, दूसरी ओर बडे बड़े कछुए अपने मोटे मोटे थूथनों से उसके मर्म स्थानों से मांस नोंचते है। वह दृश्य विचित्र होता है। मैं नित्य ही त्रिवेणी स्नान करने जाता हूँ और जाते-आते समय ऐसा दृश्य देखने को प्रायः मिल ही जाता है। स्त्री का शव हो या पुरुष का शव हो नंगा किनारे पर पडा रहता है। जब कुत्ते गृद्ध कछुए उसके मर्म स्थानों से मांस निकालते हैं उस समय फुरहुरी आ जाती है और हठात् मुख से निकल जाता है, एक-दिन हमारे इस शरीर की भी यही दशा होगी। यह विचार क्षण भर रहता है। आश्रम में आने पर कथा, पूजा, पाठ,डाक, प्रूफ कागज, छपाई की बातें जहां सामने आई वे सब बातें भूल

जाती हैं। फिर यह बात स्मरण नहीं रहती कि एक दिन मरना है। इतने मृतकों को नित्य देखते हैं, उनकी मृत्यु पर आश्चर्य नहीं होता, किन्तु जहाँ अपने किसी परिचित, सुहृद्, इष्ट मित्र की मृत्यु का समाचार सुनते है, तो तुरन्त चौंक पड़ते हैं और कहते है—"हैं, उनकी मृत्यु हो गई, बड़े आश्चर्य की बात है। कल तक तो वे अच्छे थे।" अब बताइये जो बात अवश्यम्भावी है, उसमे आचार्य की कौन सी बात है। आश्चर्य की बात तो यही है कि नौ छिद्र वाले इस पात्र में प्राणरूपी पय ठहरा हुआ है। घड़े में एक छिद्र होता है तो उसमें पानी नही ठहर सकता। इस देहरूपी घट में तो नौ दस छिद्र है। जितने दिन इसमें प्राण ठहरा रहता है, यही एक अद्भुत आश्चर्य है। मृत्यु में कुछ देर थोडे ही लगती है। हम प्रश्वास छोड़ते हैं, साँस लेते है। एक प्रश्वास छोड़ी वह लौटकर न आयी मृत्यु हो गयी। मृत्यु के लिये पहिले से कोई विज्ञप्ति नहीं दी जाती, कि अमुक दिन सावधान रहना। आकाश, पाताल, अन्तरिक्ष, स्वर्ग तथा नरक कही भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ मृत्यु न हो। छाया की भाँति सदा साथ रहती है, कब वह प्रत्यक्षहो जाय इसका कोई निश्चय नहीं। इसीलिए सन्त महात्मा बार-बार चेतावनी देते रहते हैं, कि माधव को और मृत्यु को भूलना मत। जिसे सदामृत्यु की स्मति बनी रहती है, उसे मत्यु समय पर दुःख नही होता। नही तो ऐसा सुनते हैं। सहस्रों बिच्छुओं के काटने पर जैसी पीडा होती है उससे भी अधिक पीड़ा मर्मस्थानों से प्राणों के निकलते समय होती है। ज्ञानी और अज्ञानी में यही एक सबसे बडा अन्तर है। अज्ञानी तो सदा मत्यु से बचने के लिये प्रयत्नशील रहता है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है, मैं सुख पूर्वक जीता रहूँ। ज्ञानीकी इच्छा यह रहती

है, मेरी मृत्यु निश्चिन्तता में सुख पूर्वक हो। अर्थात् अज्ञानी मृत्यु से बचने के प्रयत्न करता है। ज्ञानी मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ उसके स्वागत के लिये सर्वदा सन्नद्ध रहता है। उसकी यह हार्दिक इच्छा रहती है, मृत्यु समय मुझे इस दृश्य प्रपञ्च की विस्मृति होकर भगवान् की स्मृति बनी रहे। एक भक्त ने बड़ी दीनता के साथ भगवान् से प्रार्थना की है—

हे प्रभो ! मेरा मन रूपी हँस इसी क्षण आपके चरणरूपी कमलों में घुस जाय।"

भगवान् ने कहा—"ऐसी शीघ्रता क्यों कर रहे हो। सब साधन, भजन, जप, तप, यज्ञ, अनुष्ठान, दान, धर्म तथा पुण्यादि कर्म तो मरने के समय के लिये है। मृत्यु समय जैसी मति होती है, वैसी गति प्राप्त होती है। जब तुम मरने लगो, तब मेरा चिन्तन कर लेना, मेरे नाम का स्मरण कर लेना। इसी क्षण के लिए क्यों आग्रह कर रहे हो ?"

भक्त ने कहा—"महाराज ! है तो यही बात समस्त साधनों का उद्देश्य यही है, कि मृत्यु के समय की स्मृति बनी रहे। किन्तु मृत्यु का कोई निश्चित समय है नहीं। न जाने कब श्वास निकल जाय।"

भगवान् ने कहा—"जब प्राण निकलने लगे, तुरन्त मेरा नाम लेना। मेरा स्मरण कर लेना।"

भक्तने कहा—"अजी, महाराज ! जब अपना धन खो जाता है, तभी शरीर की सुधि बुधि नहीं रहती। मरते समय तो कंठ में कफ घुर घुराने लगता है। सन्निपात हो जाता है,

तीनों दोष कुपित होकर वाणी को रोक लेते हैं उस समय उस हड़- बड़ाहट में आपका स्मरण होना असम्भव है। अतः इसी क्षण मेरा मन आपके चरण कमलों में रम जाय।" सारांश यह कि भगवद् भक्त अभी से भगवान् को हृदय में बिठा लेना चाहते है, जिन्हें देखकर मृत्यु भी दूर भाग जाय, जिनके सहारे मृत्यु के सिर पर भी पैर रखा जा सके। इसलिये साधकोंको सदा मृत्यु का स्मरण रखना चाहिये, हमें एक दिन मरना है। मैंने सुना था योरोप में पहिले कोई एक ऐसा छोटा सा राज्य था। उसके राजा के यहाँ हर समय दो आदमी रहते थे और वे कुछ देर ठहर ठहर कर राजा के सम्मुख यह शब्द उच्चारण करते रहते थे—"तुम्हें एक दिन मरना है। तुम्हें एक दिन मरना है।" सचमुच में यदि मनुष्य को अपनी मृत्यु स्मरण बनी रहे, तो वह बहुत से पापों से बच जाय। मनुष्य अधिकांश पाप मृत्यू को भूलकर ही करता है।

हमें और बातों पर चाहे विश्वास न भी हो, किन्तु जब किसी की मृत्यु का समाचार सुनते है, तो उस पर सहसा विश्वास नहीं किया जाता। बहुत सी युक्तियाँ देते हैं, फिर अन्त में कह देते हैं—"अजी' मृत्यु का कोई समय निश्चित थोड़े ही है। जब चाहे श्वास निकल जाय। 'कोई रुग्ण हो, रोग ग्रस्त हो, उसकी मृत्यु का समाचार सुनते है, तो कह देते है, 'अजी वे तो बहुत दिन से रोगग्रस्त थे' किन्तु जब सहसा किसी की मृत्यु सुनते हैं, तो सगे सम्बन्धियों में एक विचित्र विस्मय हो जाती है, चित्त दुविधा में फँस जाता है। अविश्वास भी नहीं होता, क्योंकि मृत्यु ध्रुव है औरविश्वास भी नहीं होता, क्योंकि उसकी कोई सम्भावना पहिले से नहीं थी। यदि कोई झूठी ही मृत्यु

की बात उड़ा देता है, उससे जितना ही पहिले शोक होता है, उतना ही अन्त में हर्ष भी होता है।

उस दिन संभवतया भाद्रकृष्णा प्रतिपदा थी। श्रावणीका उत्सव मनाकर दूसरे दिन नित्य नियमानुसार कथा सुन रहे थे कि पन्तजी (भागवती कथा के व्यवस्थापक पं० गोविन्दवल्लभ पन्त) ने मुझे आकर एक तार सुनाया। तार श्री वृन्दावन धाम से आया था,|पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजी ने दिया था। उसका भाव था—"मैंने आपके सम्बन्ध में एक बहुत ही अशुभ समाचार सुना है, अपने स्वास्थ के विषय में तुरन्त तार दीजिये।"

तार सुनकर हम सब बड़े आश्चर्य में पड़ गये, किसने मेरे सम्बन्ध में क्या कह दिया। बहुत विचार किया। अन्त में एक बात समझ में आई। इसके दो चार दिन पहले ही प्रयाग के दैनिक "भारत" पत्र में एक समाचार छपा था, किन्हीं सुप्रसिद्ध काश्मीरी ब्रह्मचारी जी का देहान्त हो गया। उनका अमुक दिन भंडारा है।" हम लोगों ने अनुमान लगाया कोई आदमी पूरा नाम न जानता होगा। उसने किसी से कहा होगा— "ब्रह्मचारीजी का देहान्त हो गया।" उसने किसी और से कहा होगा, उसने श्रीहरिबाबाजी से कह दिया हो। वे समाचार पत्र तो कभी पढ़ते नहीं। इसलिये उन्होंने तुरन्त तार दिला दिया होगा, कि झूठ सत्य का निर्णय हो जाय। तार घर तो आश्रम के भीतर ही है, तुरन्त तार दे दिया गया। "आपके चरणों की कृपा से मैं कुशल हूँ।"

दूसरे दिन आचार्य चक्रपाणिजी का जवाबी तार मिला। फिर आनन्दजी ब्रह्मचारी, स्वामी कृष्णानन्दजी बम्बई वाले,

पं० नित्यानन्द जी भट्ट कथावाचक तथा और भी लोगों के पत्र मिले। सभी यही लिखते थे, हमने आपके विषय में बहुत ही बुरा समाचार सुना है, तुरन्त उत्तर दें, बड़ी चिन्ता है। किसी ने यह नही लिखा कि उन्होंने सुना क्या है। यहाँ से तार तो तुरन्त दिये गये, किन्तु न जाने क्यों वे दो दिन पश्चात् पहुँचे। तीन दिन तक हमारे वृन्दावन के कृपालु बन्धु चिन्ता ही में बने रहे।

यह तो मुझे विश्वास है, मेरा मृत्यु से किसी को दुःख तो क्या होने का। दुःख होता है प्रेम में। मरने को नित्य ही मरते हैं। जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं उनकी मृत्यु पर किसी को दुःख नहीं होता। जिनका जीव परोपकारमय है या जिनसे जिनको प्रेम होता है उनकी मृत्यु पर दुःख होता है। प्रेम मैंने किसी से किया नहीं। बहुत रूखी प्रकृति होनेसे सभी मेरा साथ छोड़कर चले गये और मुझसे घृणा करने लगे। जब मैं किसी से प्रेम नही करता तो मुझसे प्रेम कौन करने लगा, रही परोपकार की बात सो मैं तो अपनी वासनाओं की पूर्ति कर रहा हूँ। इस वासना पूर्ति में कुछ उपकार हो जाय, तो वह तो गाँव जाते हुए तिनका छूनेके समान है! इसलिये मेरी मृत्यु से कोई बड़ी भारी हलचल मचेगी ऐसा तो मानता नही, किन्तु फिर भी जिनसे अपार सम्बन्ध रहा है, जो सन्त स्वभावके कारण अहैतु की कृपा रखते है उनके मनमें चिन्ता होना स्वाभाविक ही है। हमें चार पाँच दिन तक कोई समाचार मिला नही कि बात क्या थी, वृन्दावनमें किसने यह निराधार समाचार उड़ा दिया। ४, ५ दिनके पश्चात् "भक्त-भारत" के सम्पादक प्रियवर रामदास शास्त्री का पत्र आया। उससे सब बातें विदित हुई। उनका पत्र यह था—

श्री चरणों में अभिवन्दन।

प्रभु बड़े ही नटखट हैं—"उनकी लीला का दर्शन भी उनके ही कृपा पोषित पुरुष ही कर सकते है। जब उनके पास कोई खेल खेलनेको नहीं रहता है—"तब ये झूँठ-मूँठ की क्रीड़ा के द्वारा ही विमोहित करने लगते हैं। यह भी एक रस है, इसमें भी कुछ आनन्द है और अधिक कुछ नही तो भक्तोंके नाम पर की गई इस क्रीड़ा द्वारा भावों के उच्चावच स्वरूप का पता तो लग ही जाता है।

कल शाम तक तो ३ दिनसे बड़ी बेचैनी-परेशानी और उलझन थी, रात को जब श्री ग्रानन्दजी से तारका समाचार सुना हृदय ठण्डा हुआ और आज सुबह फिर एक तार द्वारा समाचार पुष्ट हुआ तो शान्ति मिली, जब तक इन तारों का समाचार नहीं मिला था—"तब तक तो सच समझिये—अपनी ग्रज्ञानता से ही कभी तो भगवान् पर और कभी भागवतों पर और कभी भंगियों (टेढी नजर वालों) पर बड़ी गुस्सा उठती थी कि क्या इन हृदयविदारक समाचारोंको देखने-सुननेके लिये इस युग मे हम ही पैदा करने के योग्य थे—दूसरा कोई नही मिला था। कई एकोंने लिखकर आपको सूचित तो कर ही दिया होगा—और भी सुन लीजिये—

"हरे रामजी महाराज वृन्दावन आये थे—सुनते हैं किसी भूतने उनसे जाकर कहा कि मैं देखकर आया हूँ—भूसी में बड़ा भारी डाका पड़ा है और ब्रह्मचारी—हस्तचरण—दग्ध इत्यादि। उन्होंने किसी और से कहा—उसने दूसरे से कहा और उसने मनोहर (पार्षद हरिबाबा) से कहा—बस अब तो कान से कान

किस्सा बढ़ते-बढ़ते भयंकर रूप हो चला—परिणाम में जो हृदय की हालत थी—कही नही जा सकती। पर अब प्रार्थना श्री चरणों में यह है कि—आखिर यह क्या लीला है—कुछ संतों के अनुभव सुनिये—

—"ब्रह्मचारीजी के लिये एक ईश्वरीय सूचना है और प्रतिष्ठानपुर अब उनके अनुरूप नहीं रह गया है, अतः वह स्थान छोड़ देना चाहिये—भागवती कथा अन्यत्र भी लिखी जा सकती है।"

❀ ❀ ❀ ❀

—ब्रह्मचारीजी यद्यपि एक महान् कार्य में व्यस्त हैं और कार्य भी लोकातीत है—पर संसारियों की दृष्टि में एक प्रपंचमय दीख रहा है—इसी कारण लोगों की द्वेष-भावना होती जा रही है।

❀ ❀ ❀ ❀

—यह तो युग के स्वरूप का विस्तार है—अभी तो इससे भी अधिक भयकर घटनाएँ सुनने को मिलेंगी—पर इस पाप रूप युग का भी कल्याण करने वाले महात्मा ब्रह्मचारी जैसे मौजूद है। धर्म संरक्षकों पर ही इसका प्रहार होता है—जैसे राजा परीक्षित् पर।

❀ ❀ ❀ ❀

—इस तरह की घटनाएँ महापुरुषों के रूप के अनुकूल हैं, इससे महत्व चमकता है।

इस घटना से ब्रह्मचारीजी को अमरत्व प्राप्त हुआ है—भगवान् उनका कल्याण करें।

कृपया हस्तलिखित पत्र से भी सूचित कर कृतार्थ करें।

पत्र को पढ़कर मुझे बड़ी हँसी आई। लोग कैसी-कैसी बातें उड़ा देते हैं। जिसकी जड़ नहीं मूल नहीं। जिस समय मैं कुम्भ के अवसर पर एक दिन रात्रि में हंसतीर्थ की कुटी को छोड़ कर चला गया था—तो उसके सम्बन्ध में लोगों ने विचित्र विचित्र बातें उड़ाईं। किसी ने कहा—"ब्रह्मचारी जी ने पृथिवी से कहा—"फट जा।" वह फट गयी उससे एक जल का स्रोत उनकी कुटी के पास निकली, वे उसी में घुस गये। स्रोत अभी तक बह रहा है। हम अपनी आँखों देखकर आये हैं।" किसी ने कहा—"रात्रि में ब्रह्मचारीजी त्रिवेणी स्नान करने गये। उनकी नौका संगम पर चक्कर खाती रही फिर तुरन्त जल में डूब गयी। उस पर तीन आदमी थे, हमने अपनी आँखों से देखा है।" किसी ने कहा—"अमुक स्थान से लाख रुपया आया था, उसे लेकर भाग गये।" इस प्रकार की न जाने कितनी आँखों देखी बातें उड़ीं। सार उनमें कुछ नहीं था। बात यह थी, मैंने अनुभव किया कुटिया वाले नहीं चाहते मैं यहाँ रहूँ, रहने से द्वेष भाव बढ़ता है, मैंने संकल्प किया था, अमुक दिन चला जाऊँगा उसी दिन उसे छोड़कर चला गया। फिर उसमें अब तक लौटकर नहीं गया। परन्तु इस डाके वाली बातने तो विचित्र ही वातावरण उत्पन्न कर दिया। अब जो आदमी कह रहा है—"मैं आँखों से देखकर आया हूँ। उस पर कौन अविश्वास कर सकता है। किन्तु गढ़ने वालेने जो यह समाचार गढ़ा उसने बुद्धिमानी से काम नहीं लिया। जल में डूब मरे, सर्प ने काट लिया, हृदय की गति रुक गयी, ऐसी बातें कहता तो विश्वास भी होता। संकीर्तन भवन में रखा ही क्या है जिसके लिये डाकू आवेंगे। यहाँ जो कन्ट्रोल से १५ दिन का अन्न मिलता है, वह कभी दस दिनों में कभी बारह दिन में समाप्त हो जाता है। अन्तिम तीन चार दिन बड़े कष्ट से इधर उधर से से लाकर बिताये जाते हैं। यही

भागवती कथा की बात सो वह कहने योग्य नहीं है। वर्ष के अन्त में पाँच छै सहस्त्र का घाटा होता है। उसे घाटा कहना भी उचित नही। उसकी दक्षिणा से जो कुछ आता है उसे सब लोग खा जाते है। अन्न आ जाता है ऊपरी कार्यों में व्यय हो जाता है। नित्य डाकघर की आशा लगाये लोग बैठे रहते है, आज कुछ आ जाय तो दाल आ जाय नमक आ जाय। वर्ष के अन्त मे जो घाटा हो जाता है, भगवान् किसी न किसी से पूरा करा ही देते है। प्रथम वर्ष में देहली के लाला सूरजनारायणजी ने अपने इष्ट मित्रों से कर करा के ५-७ हजार रुपये से उसे पूरा किया। दूसरे मे झरिया के दीरम बाबू ने पाँच हजार देकर गाड़ी चलायी। अब तीसरे वर्ष भी पस्टम चल रही है। रही मेरी बात सो, मेरे परिचित सभी जानते है मेरे कुछ कृपालु महानुभाव हैं, जिनसे मैं किसी से चार पैसे किसी से दो पैसे नित्य के भिक्षा ले लेता हूँ। ऐसे कुछ "भिक्षा सदस्य" हैं। पहिले लोग उत्साह और श्रद्धा से देते थे। जबसे "भागवती कथा' का व्यापार आरम्भ हुआ है। लोगों की श्रद्धा घट गयी है। सब सोचते हैं—"अब तो ये व्यापार करने लगे हैं। जैसे हम वैसे ये इन्हें भिक्षा देने से क्या लाभ ?" इसलिये बहुत से बन्द भी कर दिये है। फिर भी कुछ बगीचे में साग भाजी बो लेते हैं। लस्टम पस्टम काम चल ही जाता है। मेरा जो व्यापार है, उसमें या तो घाटा ही घाटा है या लाभ ही लाभ है। घाटा तो इसलिये कि कभी इसमें आर्थिक लाभ न होगा। दश आय होगी, तो बीस व्यय होंगे। लाभ इसलिये हैं, कि जो भी कमी पड़ेगी चाहे ऐं करके करें चाहें चें करके, लोगों को पूरी ही करनी होगी। इसलिये हमें तो लाभ ही लाभ है नदी में नौका डूबती है, तो मल्लाह की तो केवल लँगोटी ही भीगती है। ऐसी दशा में यहाँ डाका डालकर कोई क्या लेगा। जानते हुए भी सन्देह

तो सबको हो ही जाता है, इस प्रारब्ध का तो पता नहीं चलता किसको मृत्यु किस ढंग से लिखी है।

वृन्दावन के संतों ने जो इस किम्वदन्ती के सम्बन्ध में अपने अनुभव लिखे हैं, उस पर मैंने विशेष रूप से विचार किया।

किन्हीं सन्त ने मुझे प्रतिष्ठानपुन छोड़ देने की सम्मति दी है। यहाँ मेरा रक्खा ही क्या है, किन्तु मेरी भागवती कथा लिखने की वासना मुझे यहाँ अभी कुछ दिन और रहने को विवश कर रही है। अष्टादश पुराण श्रवण का भी कार्य चल रहा है। जिसमें १०-११ पुराण हो चुके है। किन्तु यह अन्यत्र भी हो सकता है। भागवती कथा लेखन कार्य एक संकल्प द्वारा हो रहा है। एक प्रकार का यह भी चित्तवृत्ति निरोध योग है, जैसा वायुमण्डल बन गया है, दूसरे स्थान पर उसे फिर से बनाने मे समय लगेगा। संभव है वह बने भी नही अधूरा ही रह जाय। जैसे कई पुस्तकें ऐसे ही अधूरी रह गई है। इन सब खंडों को मै स्वयं छपा सकू ऐसी तो आशा भी नही विश्वास भी नही,परन्तु न सही १०८ खण्डों में किसी प्रकार यह पूरी लिख तोजाय। पाठकों ने संभवतया ध्यान न दिया हो। भागवती-कथा केप्रत्येक अध्याय के आदि अन्त में एक छप्पय रहता है छप्पय परस्पर में सम्बन्धित होते हैं। पूरे खण्ड के केवल छप्पयों को ही आप पढ़ते जायँ, तो खण्ड की पूरी कथा उनमें क्रमबद्ध आ जायगी इसे एक "श्रीभागवत चरित" के नाम से पृथक छपवा दिया है। छप्पयों के अतिरिक्त बीच-बीच मे कथा प्रसङ्ग मिलाने के लिये दोहा, सोरठा, छन्द तथा पद आदि भी जोड़ते जाते है। इसके सात विभाग रहेंगे। प्रथमाह, द्वितीयाह, तृतीय, चतुर्थाह, पंचमाह, षष्ठाह, और सप्ताह। इसमें संक्षेप और

शत्रुवत् बन जाते हैं। प्रपञ्चमें रागद्वेष तो रहता है। जो साथियों के सहारे काम करता है,उसे पछताना पड़ता है। कोई भी काम करने वाला हो उसे सर्वप्रथम अपने साथियों के विरोध के लिए उद्यत होकर ही उस कार्य मे प्रवृत्त होना चाहिये।

आज का युग बड़ा भयंकर है। आज जो भी हो जाय,सोई थोड़ी। हम मुँह से तो धर्म कहते है। स्वयं हमारी धर्म में आस्था नही रही। हम अपने को ब्रह्मचारी कहते है, किन्तु शास्त्रों में जो सन्यासी ब्रह्मचारी के धर्म बताये हैं, उनमें से सौ अंशों में से एक अश का भी पालन नहीं करते। "यदापि युवती क्षिभर्नस्पृशेदार वीमपि" आदि जो धर्म हैं उनका पालन नहीं कर सकते। जिस क्षेत्र मे भी दृष्टि दौड़ाते है उधर ही दुराचार, कदाचार, दम्भ, कपट, पाखण्ड और अधर्म हो रहा है। इसमें दोप दे भी चाहें, तो किसी से एक हो तो उसे दोप दें यह तो कूप मे भाँग पड़ गया है। भीड़ मे हम चलते हैं, हम पीछे वालों पर क्यों बिगड़ते हैं, "अजी, हमें धक्का क्यों दे रहे हो किन्तु आगे वालोंको हम भी धक्का दे रहे है इस बातको हम भूल ही जाते हैं। आगे वाला जब हमसे बिगड़कर पूछता है "क्यों जी धक्का क्यों देते हो ?" तो हम उससे भी अधिक बिगड़कर कहते हैं— "भाई, अब कैसे करे पीछे वाले दे रहे है।" इसी प्रकार हम स्वय धर्म का आचरण नहीं करते। दूसरों को बुरा भला कहते हैं, अरे ! वे सर्वनाश कर रहे है, धर्म पर कुठाराघात कर रहे हैं। इसमे दोप किसे दें। "अयन्तु युगधर्मोहि वतते कस्य दूपणम्।"

अन्त में पाठकों से मेरी प्रार्थना यही है, कि ये सभी घटनाएँ जीवके कल्याण के ही लिये होती हैं। भगवान् की इच्छा से ही होती हैं, इनमें उपदेश भरा रहता है। जीव के लिये चेतावनी होती है, पाठक ऐसा आशीर्वाद दे, कि मैं मृत्यु का

नाम सुनकर डरूं नहीं, बाहरी वस्तुओं में रागद्वेष न रहे। राग हो तो श्री श्याम सुन्दर के चरणारविन्दों में ही हो। उन्हीं के चरित्रों में राग हो। शुभं भूयात्—

छप्पय

हे वृन्दावनचन्द्र ! दुबकि मेरे चित आओ।
रागद्वेष मन द्रव्य ताहि हे चोर ! चुराओ॥
अच्युत ! है यह आस स्वास जब तनतें निकसे।
तब चरननि चित रहे नाम तब मुख तें निकसे॥
मृत्यु समय हे मन हरन ! मनमहँ तुम ही तुम रहो।
"मेरी है तू" मति डरे, एक बार हँसिकें कहो॥

झूसी प्रयाग
आश्विन-कृ०-१२-२००६ प्रभुदत्त

महाराज हरिश्चन्द्र का उत्तर चरित्र

(६३७)

सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः।
विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ७ अ० २४ श्लोक)

छप्पय

मुनि रोक्यो मग कह्यो साङ्गता धन अब दीजै।
नृप बोले—मुनि ! एक मास धीरज अरु कीजै ॥
यों कहि काशी गये कपर्दी की रजधानी।
अवधिपूर्ण लखि पहुँच गये कौशिक अभिमानी ॥
द्रव्य याचना करी मुनि, नृप रानी विक्रय करी।
रोहित हूँ बेच्यो स्वय बिके दक्षिणा द्विज भरी ॥

धैर्य की परीक्षा विपत्ति में होती है, सहन शीलता की परीक्षा क्रोध और अपमान के समय होती है और त्याग की परीक्षा दरिद्रता के समय होती है। ये संसारी धन वैभव आते

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराम हरिश्चन्द्र को अपनी स्त्री के सहित सत्य मे ऐसी निष्ठा और दृढ़ता देखकर विश्वामित्र जी परम प्रसन्न हुए और उन्हे तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया।"

जाते रहते है, जिनकी दृष्टि में इन धातुओं के ठोकरों का धर्म की अपेक्षा कुछ भी महत्व नहीं, जो धर्म के लिये सब कुछ त्यागने को तैयार रहते है. संसार में उनकी ही कीर्ति अक्षय रहती है, जा नाना प्रकार के अन्यायों द्वारा इस शरीर का ही पालन पोषण करते करते मर जाते है, उनके जीवन का क्या महत्व जसे ककड, पत्थर, कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी पैदा होते है मरते हैं वैसे ही वे है। धर्म रक्षा के लिये जो दुःख सहा जाता है वह दुःख होते हुए भी सुख है। उस वेदना में भी मिठास है और सर्व अभाव मे भो आत्मतोष है।

सूतजी कहते है—"मुनियों! आपने मुझ से महाराज हरिश्चन्द्र का उससे आगे का चरित्र पूछा जब वे सर्वस्व त्याग कर काशी चले गये थे। महाराज अपनी पत्नी शंव्या और पुत्र रोहिताश्व के साथ गिरते, पड़ते नाना क्लेस सहते एक महीने में अयोध्या जी से वाराणसी पहुँचे। वे इस वात को भूल ही गये, कि मुझे आज नगर से निकले एक महीना हो गया है और एक महीने पश्चात् ही मैंने विश्वामित्र मुनि को दक्षिणा देने का वचन दिया है। उन्होंने ज्यों ही पुरी में प्रवेश किया त्यों ही उन्हें सम्मुख द्वार पर खड़े महामुनि विश्वामित्र दिखाई दिये। आते ही मुनि ने कहा—"राजन्! आज एक मास पूर्ण हो गया, आप मुझे अपनी प्रतिज्ञानुसार दक्षिणा दीजिये।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आज तो अभो पूरा दिन शेप है, मैं सायकाल तक यत्न करूँगा।"

यह सुनकर मुनि चले गये। राजा वड़ी चिन्ता में पड़ गये। कि कैसे मैं मुनि को दक्षिणा दूँ।"

राजा को चिन्तित देखकर उनकी सती साध्वी पत्नी शैव्या बोली—"महाराज! आप क्या चिन्ता कर रहे है?"

राजा बोले—"प्रिये ! मैं धर्मपाश में बँधा हूं, मुझे किसी ने बाँध नहीं लिया है, सत्य ने मुझे बाँध रखा है। अब मेरे सामने सत्य रक्षा का प्रश्न है।"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ ! प्राण देकर भी सत्य की रक्षा करनी चाहिये। ब्राह्मण को वचन देकर उसका पालन करना चाहिये, जिस बात की प्रतिज्ञा की हो, उसे सामर्थ्य रहते पूरी करनी चाहिये।"

राजा बोले—"प्रिये ! यही तो मुझे चिन्ता है, कि किस प्रकार सत्य का पालन करूँ ?"

रानी बोली—हे जीवन धन ! मैं आपकी दासी हूँ, आज्ञा कारिणी हूँ, आपके अधीन हूँ, आप मुझे बेच दें और उसी द्रव्य से महामुनि को सन्तुष्ट करें।"

यह सुनते ही महाराज मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर गये, और बड़े ही आर्त स्वर मे बोले—"प्रिये ! तुम ऐसी बातें मुख से मत निकालो। अश्वमेध यज्ञों मे जो केश वेद के मंत्रों द्वारा दिव्यौपधि महौपधि के जलों द्वारा भिगोये गये हैं, उन्हें मैं अपने देखते दूसरो को कैसे छूने दूँगा।"

इस पर रानी बोली—"हे धर्मज्ञ ! धर्म के सम्मुख धन, धान्य बान्धव, स्त्री, बच्चे यहाँ तक कि प्राणों का भी कोई महत्व नहीं। मुझे पुत्र हो चुका है, आप धर्मतः पितृ ऋण से उऋण हो चुके हैं अतः आप कुछ द्रव्य लेकर मुझे किसी को दासी बना दें।" धर्म की रक्षा के लिये सब कुछ करना होता है।"

यह सुनकर राजा रो पड़े और रोते रोते बोले—"जिसकी दास दासियाँ भी सुवर्ण के कुण्डल पहिन कर आज्ञा चलाती थी, अपने हाथो कुछ काम नहीं करती थी, वही सम्राज्ञी शैव्या सेविका बन कर साधारण से साधारण सेवा कैसे कर सकेगी ?

हाय ! जिसने कभी दुःख देखे नहीं, वह राजरानी दासी बन कर दुःखों को किस प्रकार सहेगी ?" इतना कहते कहते महाराज मूर्छित हो गये, रानी अपने वस्त्र से उनको वायु करने लगी किन्तु महाराज को चेतना नहीं हुई। इसी बीच में विश्वामित्र जी आये। राजा को मूर्छित देखकर उन्होंने शीतल जल आदि छिड़क कर राजा को सचेत किया और फिर बोले—"देखिये राजन् ! आप सत्यवादी हैं, धर्मात्मा हैं, आपने मुझसे दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा की है, अतः आपको आज सूर्यास्त तक मुझे दक्षिणा देनी होगी। यदि आप आज दक्षिणा न देंगे, तो निश्चय ही मैं आपको शाप दूँगा।" इतना कहकर विश्वामित्र जी चले गये।

अब तो राजा के दुःख का पारावार नहीं रहा। उन्हें सम्पूर्ण संसार सूना ही सूना दिखाई देने लगा। तब रानी ने राजा से कहा—"प्रभो ! आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें, सकोच न करें।"

अब राजा क्या करते वे तो धर्मपाश में आबद्ध थे, अतः वे अपनी प्यारी सुकुमारी पत्नी को लेकर काशी के उस चौक में आये, जहाँ पुरुषों की सदा भीड़ बनी रहती है। राजा ने गद्गद् कंठ से अश्रु बहाते हुए कहा "ओ नागरिको ! यदि आप लोगों में से किसी को अपने घर का चौका, बर्तन, झाड़ू बुहारी के लिये दासी की आवश्यकता हो, तो मुझे दाम देकर मेरी इस प्यारी पत्नी को ले जाओ। मैं आज इस परम सुकुमारी पुत्रवती सती को बेचना चाहता हूँ।"

राजा के ऐसे दीनता भरे वचनों को सुनकर बहुत से दयालु पुरुष एकत्रित हो गये और पूछने लगे—"भाई ! तुम कौन हो ? देखने में तो तुम किसी कुलीन वंश के जान पड़ते हो, यह तुम्हारी

पत्नी भी किसी उच्चकुल में उत्पन्न परम सुन्दरी है, फिर तुम इसे बेचना क्यों चाहते हो ?"

रोते-रोते राजा बोले—"भाइयो ! तुम मेरा परिचय प्राप्त करना चाहते हो ? तो मेरा परिचय इतना ही पर्याप्त है, कि मैं परम क्रूर पुरुष हूँ । आकृति मेरी पुरुषों की सी है, किन्तु मैं हिंसक क्रूर कर्मा नर पशु हूँ । नहीं तो भला सदा अपने अनुकूल रहने वाली, मुझसे प्राणों से भी अधिक प्यार करने वाली अपनी पत्नी को भला कौन सज्जन पुरुष बेचेगा ?"

महाराज इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतने में ही एक वाचाल ब्राह्मण वहाँ आ गया । उसके त्रिपुण्ड, दुपट्टे, डण्डे को देखकर सभी सहम गये । उसने आते ही पूछा – "क्या बात है ?"

लोगों में से कुछ ने कहा—"ये सज्जन अपनी इस परम सुकुमारी नारी को दासी कर्म के लिये बेचना चाहते हैं ।"

ब्राह्मण ने पूछा—"क्या लोगे भाई ! तुम इसका ?"

यह सुनकर राजा का हृदय फटने ही वाला था कि वे सम्हल गये और अत्यन्त ही धैर्य के साथ बोले—"आप जो भी दे दें ।"

ब्राह्मण बोला – "मेरी स्त्री अत्यन्त ही सुकुमारी है, उससे घर का काम काज होता ही नहीं । मैं बहुत दिनों से एक दासी की खोज में था, मेरे अनुरूप कोई मिली नहीं । अच्छी बात है, यह मेरे यहाँ काम किया करे । लो, इसके बदले इतना द्रव्य मैं आपको देता हूँ ।"

यह कहकर ब्राह्मण ने कुछ सुवर्ण मुद्रायें राजा के वल्कल वस्त्रों में बाँधी और वे रानी का हाथ पकड़ कर ले चले ।

उस समय का दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। बालक

रोहित ने जब देखा एक निष्ठुर हृदय पुरुष मेरी माँ को पकड़े

जा रहा है, तो उसने कसकर अपनी माँ का पल्ला पकड लिया और वह ढाह् वाँधकर रोने लगा–माता का भी हृदय भर आया, उसने रोते-रोते कहा–' बेटा ! अब मुझे तुम क्यों छूते हो, अब तो मैं दासी हो गई तुम तो राजवंशोद्भव हो। आज तुम पेट भरके अपनी जननी को निहार लो। अब तुम्हारी माता दासी हो गई है।"

ब्राह्मण ने जब देखा कि करुणा का दृश्य अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है, तो उन्होंने डाँटकर रानी से कहा तू चलती है या मोह ममता करती है। यह कह कर उसने रानी को एक धक्का दिया। फिर भी रोहित ने अपनी माँ का पल्ला न छोड़ा वह किढिरता हुआ माँ के पीछे हो लिया। ब्राह्मण ने उस बालक को माँ से बलपूर्वक विलग करना चाहा, किन्तु बच्चा और भी अधिक रोने लगा। तब रानी ने अत्यन्त करुण स्वर में कहा– "पिताजी ! यदि आपकी कृपा हो तो आप इस बच्चे को भी मोल ले लें। मेरे बिना यह दुखी रहेगा और इसकी याद में मैं चिन्तित रहूँगी, जिससे आपके घर का काम भी भली भाँति न कर सकूँगी यदि यह रहेगा, तो हम दोनों ही आपके घर के कामों को किया करेंगे।

ब्राह्मण की बुद्धि में यह बात धँस गई। तुरन्त ही कुछ सुवर्ण मुद्रा राजा के वल्कल उत्तरीय मे वाँध कर बोला–' अच्छा लो, इस बच्चे को भी मुझे दे दो।" यह कह कर वह माता और पुत्र को लेकर चल दिया। इधर महाराज हरिश्चन्द्र कटे वृक्ष की भाँति मूर्छित होकर गिर पड़े। रानी वार वार मुडकर महाराज की ओर निहारती जाती थी। राजा के नेत्रों से निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। वे चिल्ला रहे थे हा प्रिये ! हा वत्स!

मुझ क्रूरकर्मा नीच के अन्याय के कारण तुम्हें कैसे कैसे क्लेश सहन करने पड़ रहे है, मुझ पापात्मा को धिक्कार है।

रानी की दृष्टि राजा पर लगी थी। रोहित माँ के पल्ले को कसकर पकडे हुए था। ब्राह्मण उन्हे शीघ्र चलने के लिये विवश कर रहा था। रानी के पैर किढ़िर रहे थे। कुछ ही क्षण मे राजा रानी एक दूसरे की दृष्टि से विलीन हो गये। ब्राह्मण रानी को लेकर अपने घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने सांत्वना देते हुए कहा—"बेटी! तू इसे अपना घर ही समझ और सुख पूवक यहाँ रहना।" रानी ब्राह्मण के घर में रहकर अपने दिन काटने लगी।

इधर महाराज पुत्र और पत्नी के बिक जाने से वड़े ही व्याकुल हो रहे थे कि उसी समय विश्वामित्र मुनि आ पहुँचे और वोले—"राजन्! अब तो सूर्यास्त होने मे कुछ ही समय शेष है, मेरी दक्षिणा का कुछ प्रवन्ध किया?"

राजाने कहा—"ब्रह्मन्! मैंने अपनी पत्नी तथा पुत्र को वेच दिया है, उन दोनों की विक्री से जो द्रव्य प्राप्त हुआ है, उसे आप ग्रहण कीजिए और मेरे ऊपर प्रसन्न होइये।" यह कह कर राजाने वल्कल वस्त्रों मे वँधे द्रव्य की ओर सकेत कर दिया। मुनि ने द्रव्यको खोला और गिन कर कहने लगे-"क्यों महाराज क्या इतने वड़े दानकी सांगता में इतना स्वल्प द्रव्य उचित है?

दीनता के साथ राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मै विवश हूँ, मेरे, पास इसके अतिरिक्त और कुछ द्रव्य है ही नहीं।"

मुनि वोले- -"नही राजन्! मेरी सतुष्टि तो इतने द्रव्य से नहीं-नहीं।"

तब राजा ने कहा—"भगवन् ! मेरी स्त्री मेरा प्यारा पुत्र तो बिक गये अब मेरा शरीर शेष रह गया है। अतः आप उसे बेच कर जो मिले उसे लेकर सतुष्ट हो जायँ।"

मुनि ने कहा—"चाहे जैसे हो, मुझे तो यथेष्ट धन मिलना चाहिये मैं जाता हूँ अब मैं सूर्यास्त के समय ही आऊँगा। यह मेरा अन्तिम आना होगा, उस समय तक आपने मुझे यथेष्ट दक्षिणा दे दी तब तो कोई बात ही नहीं। यदि न दे सके तो मैं तुम्हें शाप देकर भस्म कर दूँगा।"

यह सुनकर राजा मूर्छित हो गये। उन्होंने धर्म का स्मरण करके अपने को सम्हाला। उसी समय वहाँ धर्म चाँडाल आ उपस्थित हुआ। महामुनि ने दुर्वासा के शाप से धर्म को तीन स्थानों में जन्म लेना पड़ा। एक तो युधिष्ठिर के रूप में,एक दासी पुत्र विदुर के रूप मे और एक काशी में प्रवीर चाँडाल के रूप में।

महाराज हरिश्चन्द्र अपने को बेचने के लिये चिल्ला रहे थे कि वहाँ प्रवीर चाँडाल आ पहुँचा। उसका शरीर काला था। बाल कड़े और ताम्बे के वर्ण के थे,मुख भयकर और माथा छोटा था, नाक चिपटी हुई, आँखें गोल छोटी पीलापन लिये हुए रूखी और कठोर थी। छाती बड़ी और कड़ी थी, पेट लम्बा था, पैर छोटे थे, चर्म मोटा और भैंस के समान था। झोली मे बहुत से मरे पक्षी भरे थे। मुर्दे के ऊपर के वस्त्रों को पहिने था तथा मुर्दों के ऊपर चढ़ी हुई मालाओं से उसने अलंकार कर रखा था। नरमुण्डों की माला पहिने और हाथ में नरकपाल लिये हुए वह कुत्तों से घिरा निर्भय चला आ रहा था। उसकी देह से दुर्गन्ध निकल रही थी। उसकी आकृति-प्रकृति क्रूर थी। आते ही उसने कहा—"मुझे एक दास की आवश्यकता है यदि

तुम मेरे दास बनो तो तुम जितना भी द्रव्य चाहो उतना मैं दूँ। मुझे द्रव्य की कमी नहीं। महा स्मशान का मैं प्रधान चांडाल हूँ। बड़े से बड़े राजे-महाराजे यहाँ फूंकने आते है उनके ऊपर का दुशाला और द्रव्य सभी मैं लेता हू। मैं तुम्हें मुहमाँगा दाम दूँगा।"

राजा ने कहा—"तुम कौन हो? मुझसे क्या काम कराओगे?"

चांडाल ने कहा—"मैंने बता दिया मैं प्रवीर नामक चांडाल हूँ। तुम्हें स्मशान मे रहना पड़ेगा। जो भी मृतक पुरुष आवेगा, उसके ऊपर का वस्त्र तुम्हें लेना पड़ेगा।"

राजा ने कहा—"अरे, भाई! मृतकों से आजीविका करना तो अत्यन्त ही निन्दित है, मृतकों के हाथ से दान लेने वाला ब्राह्मण भी पतित और अस्पर्श समझा जाता है। फिर जो चांडाल जलाई हुई राख में से द्रव्य निकालते है, उनके ऊपर का वस्त्र लेते है, मृतक के ऊपर चढ़ी वस्तुओं को लेते है, उनसे नीच कौन होगा। अतः मैं चांडाल का दास बनना नहीं चाहता।"

चांडाल ने कहा—"भाई, जैसी तुम्हारी इच्छा। द्रव्य देने में तो मुझे कुछ आपत्ति है नहीं। द्रव्य तो तुम्हें मैं मनमाना दे सकता हूँ।"

चांडाल यह कह ही रहा था, कि इतने में ही लाल-लाल आखें किये महामुनि विश्वामित्र वहाँ आ पहुंचे। आकर उन्होंने पूछा—"तुम लोगों में क्या बातें हो रही है?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! आपकी दक्षिणा पूरी नहीं

इसीलिये अब मैं अपने को भी बेचना चाहता हूँ, यह चांडाल कहता है, मेरे हाथ बिक जाओ।"

मुनि ने कहा—"बिकना तो तुम्हें है ही, जब यह तुम्हें द्रव्य दे रहा है, तब क्यों नहीं बिक जाते ?"

राजा ने कहा—"भगवन् ! मृतकों के वस्त्रों से आजीविका करना परम निन्दनीय कर्म है। चांडाल कर्म परम निन्दनीय बताया है। आप मुझे चांडाल के हाथों क्यों बेचते है ? कहीं अन्यत्र मुझे बेचकर द्रव्य ले लें। या शेष द्रव्य के बदले आप ही जीवन भर मुझे अपना दास बना लें, मैं आपकी सदा सेवा करता रहूंगा।"

मुनि ने कहा—"मेरे पास तो सेवक बहुत है, मुझे सेवकों की कमी नहीं। मुझे तो यथेष्ट द्रव्य चाहिये।"

चांडाल ने कहा—"द्रव्य तो मैं चाहे जितना दे सकता हूं।"

मुनि बोले—"तब और क्या चाहिये। जाओ मैंने इन्हें तुम्हारे हाथो बेचा। इतनी लाख सुवर्ण मुद्रा तुम मुझे दो।"

चांडाल ने मुनि का मुहमांगा द्रव्य उन्हें दे दिया। राजा विवश थे, धर्मपाश में बंधे थे। अत. वे कुछ भी नहीं कह सके। चांडाल राजा को बांध कर अपने घर की ओर ले चला। महाराज पशु के समान मुख नीचा किये हुए चांडाल के साथ चले गये। उन्होंने राजा होकर भारी से भारी अपमान, बड़े से बड़ा कष्ट सहन करना तो स्वीकार किया, किन्तु सत्य धर्म को छोड़ने की बात उनके मन में भी नहीं आई। वे धर्मपाश मे जकड़े हुए थे, चांडाल उन्हें अपने घर ले गया।

काल की कैसी क्रूर गति है कल तक जो सप्तद्वीपा वसुमति के राजा थे, जिनके आगे पीछे सहस्रों सेवक सैनिक चलते थे, आज वे चाडाल के घर के एक कोने में पड़े रो रहे है,कोई उनकी ओर निहारता तक नही। उन्हें राज्य जाने का सोच नही था। ऐश्वर्य भ्रष्ट होने का दुःख नही था। चाँडाल दास हाने का भी उन्हें उतना क्लेश नही था, किन्तु रात्रि दिन उन्हें अपनी प्राणप्रिया पत्नी की और फूल से भी सुकुमार कुमार रोहित की चिन्ता बनी रहती। हाय ! उनकी क्या दुर्दशा हो रही होगी ! सदा सुख में पली शैव्या सेविका कार्य कैसे करती होगी, कुमार किस प्रकार अपने जीवन को बिता रहा होगा, वे इस लोक में हैं भी या नही। प्रारब्ध ने मेरे साथ यह कैसा खेल खेला, राज्य से च्युत हुआ, प्रजाओं से पृथक् हुआ, पत्नी पुत्र को अपने ही हाथों विक्रय किया और स्वयं भी द्विजत्व से भ्रष्ट होकर चाँडालता को प्राप्त हुआ। आज मुझे कोई पूछने वाला नही। क्या करूँ कहाँ जाऊँ" इस प्रकार वे सोच ५.रते हुए अपने दिन व्यतीत करने लगे।

चाँडाल ने देखा, यह कोई भले घर का आदमी है, मेरे यहाँ रहने मे इसे संकोच है, सत्यवादी धर्मात्मा है, अतः उसने महाराज को मणिकर्णिका घाट के श्मशान पर उन्हें नियुक्त कर दिया। वहाँ एक टूटा फूटा मैला कुचैला पुराना सा घर पड़ा था, वहाँ ले जाकर महाराज से कह दिया,'तू यही रात्रिदिन रहा कर जो भी दाह के लिए मृतक आया करे उन्हें अग्नि दिया करना, उनके ऊपर के वस्त्र को और दक्षिणा को एकत्रित रखना। महाराज तो उसके दास ही ठहरे, उन्होने उसकी बात को स्वीकार कर लिया। अब महाराज उस महाश्मशान में रहने लगे। निरन्तर धू धू करती हुई चितायें जलती रहतीं थी।

शवों की दुर्गन्ध से वह स्थान भरा रहता था। चारों ओर हड्डियाँ बिखरी रहती थी, बहुत सी खोपड़ियाँ इधर उधर टकराती रहती थी। बड़ेबड़े कछुए मृतक शरीरों के माँस को खाने के लिए किनारो पर मुँह निकाले पड़े रहते थे। आधे जले या वैसे ही पड़े मृतको को सियार चौथते रहते थे। बहुत से मृतक शरीर सड़ जाते, उनमे से दुर्गन्ध निकलती रहती, उन्हें कुत्ते सियार गीदड भी नही खाते थे, उन्हे पास से महाराज को फेंकना पड़ता कुछ जले कुछ अधजले मृतकों को खींच कर मोटे मोटे कुत्ते खाते रहते। बहुत से गिद्ध काक अपने परों को फटफटाते भयकर शब्द करते इधर से उधर दौड़ते रहते। भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल, डाकिनी, साकिनी, आदि वायु के आधार से रहने वाले सूक्ष्म शरीर के प्राणी वहाँ के वृक्षों पर रहकर हँसते खेलते और भयकर शब्द करते थे। वहाँ निरन्तर लोग आते जाते रहते थे। किसी का पुत्र मर गया है, तो उसके परिजन हा ! पुत्र ! हा ! मेरे लाल ! कह कर डकरा रहे है, कोई अपने मित्र का नाम लेकर रो रहा है, कोई माता पिता के लिए आँसू बहा रहा है, कोई स्त्री के वियोग मे तड़प रहा है, कोई सन्तान के मरने पर विलबिला रहा है, चारो ओर करुण क्रन्दन ही क्रन्दन सुनाई पड़ता था। वहाँ निद्रा किसी प्रकार भी नही आ सकती थी। कभी कभी माँस भोजी पशु पक्षी महाराज को सोता देखकर उन्हें भी मृतक समझ कर काट लेते। महाराज तत्क्षण उठ बैठते कोई भी मृतक आता, किसी भी समय आता, महाराज तुरन्त उठकर जाते, उसे अग्नि देते, पैसा लेते और उसके ऊपर के वस्त्र को लेकर सुरक्षित रखते। उन्हें इस बात का सर्वदा ध्यान रहता था, कि मेरे स्वामी चांडाल का काम सावधानी से होना चाहिये। उसमें छल, कपट या प्रवञ्चना न होने पावे।

इस प्रकार उस अत्यंत भयंकर श्मशान भूमि मे जिस किसी

प्रकार दिन व्यतीत करते हुए महाराज को पूरा एक वर्ष हो गया। वह एक वर्ष महाराज ने कैसे व्यतीत किया, इसे उनके अतिरिक्त कोई अनुभव नहीं कर सकता। उनका क्षण-क्षण युग के समान बीतता। वे कुछ खाते पीते नहीं थे। उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया, आँखे भीतर धँस गई। कोई भी परिचित उन्हे देखकर नही पहचान सकता था कि ये अयोध्याधिप महाराज हरिश्चन्द्र हैं। उन्हें रात्रि दिन अपनी पत्नी तथा पुत्र की ही चिन्ता बनी रहती।

इधर महारानी शैव्या बडी भक्ति भाव से ब्राह्मण की सेवा करती। दिन भर काम मे जुटी रहती। उनके काय से ब्राह्मण और ब्राह्मण पत्नी परम सन्तुष्ट थे। वे उसके सुन्दर स्वभाव और शील संकोच के कारण आत्मीय पुरुष की भाँति वर्ताव करते, किन्तु महारानी को अपने प्राणनाथ की निरन्तर चिन्ता बनी रहती।

एक दिन कुमार रोहिताश्व कहीं बाहर खेल रहा था, कि इतने में ही एक काला विषधर सर्प आया और उसने इसे डस लिया। सप के डसते ही कुमार मर गया। बालकों ने जाकर यह समाचार महारानी शैव्या को सुनाया। सुनते ही महारानी तो अचेत हो गई वे बार बार दैव को धिक्कारने लगी। वे कहतीं–'हमारे कब के पाप उदय हुए हैं, मेरे पति ने कभी भूल से भी अधर्माचरण नहीं किया, कभी किसी को कष्ट नहीं दिया। फिर हमे इतना कष्ट क्यों मिल रहा है, क्यों हम पर विपत्ति के ऊपर विपत्तियाँ आ रही है। प्रतीत होता है, मैंने कभी किसी माता को बच्चे से विलग किया होगा, तभी तो यह मेरे जीवन का एकमात्र आश्रय बालक भी मुझ से विलग हो गया। हाय! मरने मे भी स्वतन्त्र नहीं। दासी को स्वेच्छा से मरने

साथ ही मृतक के ऊपर का नवीन वस्त्र भी। यही सोचकर उन्हों ने अपना चाडालों का डड उठाया और उधर की ही ओर चले।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्राचीन काल में सभी के वेप-भूषा चिन्ह पृथक पृथक होते थे, उसे ही देखकर सब जान लेते

थे, कि यह कौन है, किस जाति का है । चांडाल लोग चरों से लपेटा एक डंड रखते थे । महाराज हरिश्चन्द्र को भी वह दंड अपने स्वामी प्रवीर चांडाल से प्राप्त हुआ था । उसे लेकर महाराज महारानी शैव्या के निकट पहुँचे । वहाँ जलती चिताओं के प्रकाश में जब उन्होंने उस अत्यन्त सुन्दर सुकुमार बच्चे का मुख देखा, तो उनका हृदय द्रवित हो उठा । उन्हे तुरन्त अपने प्यारे पुत्र रोहित का स्मरण हो आया । वे सोचने लगे—"देखो, काल की कैसी क्रूर क्रीडा है । यह बच्चा कितना सुन्दर है कितना सुकुमार है, निर्दयी काल ने इसे ग्रस लिया । हाय ! इसके घरवाले कितने दुःखी होंगे । मेरा रोहित भी यदि कहीं सकुशल जीवित होगा, तो इतना ही बड़ा हो गया होगा । इसके अंगो मे भी रजोचित चिह्न है ?"

महाराज इस प्रकार दंड लिये हुए रो रहे थे, कि उसी समय डर कर महारानी शैव्य चिल्ला उठी—"हा पुत्र ! बेटा ! तू अकेला कहाँ जा रहा है ।"

महाराज को रानी के स्वरों को सुनकर सन्देह हुआ । है! यह तो मेरी प्राण प्रिया शैव्या प्रतीत होती है, किन्तु उन्हे निश्चय नही हुआ ।

महारानी फिर बच्चे का मुख चूमती हुई बोली—"बेटा रोहित । तुम राजकुमार हो, चक्रवर्ती के पुत्र हो, दैव ने मुझे ठग लिया । पति से मेरा वियोग कर दिया । आज मैं राजरानी होकर दासी का कार्य कर रही हूँ । मुझे दासी होने मे भी सुख ही था, तू यदि मेरे साथ रहता, तो जैसे तैसे तेरा मुख देखकर मैं अपने दिनों को काट भी लेती किन्तु पति ने तो साथ छोड़ा ही तू भी मेरा साथ छोड़ गया । मैं अभागिनी कहीं की भी न रही,

मेरे राजर्षि पति न जाने कहां भटक रहे होंगे, तू मुझे बीच में ही छोड़ गया। हाय मेरा हृदय न जाने किन किन धातुओं के मिश्रण से बना है, जो इतनी भारी विपत्तियों के आने पर भी फटता नहीं, इसके टुकड़े–टुकड़े नहीं होते।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! अब तो महाराज को कोई सन्देह रहा नही। वे धड़ाम से पृथिवी पर गिर पड़े। उनके चोट लगी, किन्तु इसका उन्हें कुछ पता नही। वे हा पुत्र हा पुत्र कह कर मुक्त कंठ से रुदन करने लगे।"

महारानी शैव्या रो रही थीं डर रही थी। वे पुत्र शोक से विह्वल बनी हुई थीं, उन्हें यह भी ध्यान नही था, यह मेरे पास कौन पुत्र, पुत्र चिल्ला रहा है। वे समझीं ये भी कोई मेरे ही समान हतभागी होंगे, इनका भी पुत्र मर गया होगा। राजा बड़ी देर तक मूर्छित अवस्था मे पड़े रहे। कुछ काल में उन्हें चेतना हुई। उन्होंने दौड़ कर बच्चे को उठा लिया और कस-कर छाती से चिपटाते हुए कहने लगे—' मेरे लाल! मेरे वत्स रोहित। भैया, सब ने मुझे छोड़ दिया। तू भी मुझे छोड़ कर परलोक जा रहा है क्या? मुझे भी अपने साथ ले चल अब मैं तेरे बिना इस पृथिवी पर रह नही सकता।"

रानी ने जब महाराज की वाणी सुनीं तब तो उन्हें भी निश्चय हो गया, मेरे प्राणनाथ ही हैं। इतने देर से महाराज खड़े थे। रानी ने कई बार उन्हें देखा, किन्तु वे उन्हें पहिचान न सकीं। उन्होंने उनके मस्तक पर छत्र तना देखा था। काले—काले घुँघुराले बालों को फहराते मुखमंडल पर निहारा था। आज उनके मस्तक पर रूखी-रूखी भयंकर जटायें थीं, जो चिता के धूँए से या लपटों से सुनहली और धूमिल बन गई थीं। उनका

अंग काला पड़ गया था वे चिथड़े लपेटे हुए थे,सम्पूर्ण शरीर पर मैल जमा था। शरीर सूख कर काँटा हो गया था। उनके वस्त्रों से दुर्गन्ध आ रही थी। वे मृतक पुत्र का बार-बार मुख चूमते और चेतना शून्य हो जाते। रानी ने जब उनके हाथ में चांडालों के योग्य दंड देखा, तो वे समझ गईं, मेरे प्राणनाथ को दुर्दैव ने चाँडाल बना दिया हैं।

इतना स्मरण आते ही वे प्राणनाथ कह कर चीत्कार मार कर दौड़ी, किन्तु बीच में ही मूर्छित हो कर गिर गईं। राजा ने आगे बढ़ कर रानी को सम्हाला।

उस समय के हृदय को करुणा भी नहीं निहार सकती थी। एक ओर मृतक पुत्र महाराज के गोद में था, दूसरी ओर मुरझाई हुई कमलिनी की भाँति महारानी चेतना शून्य पड़ी लम्बी लम्बी सांस ले रही थी महाराज ने धैर्य धारण किया। वे गंगाजी से जल लाये। इन्होंने महारानी के मुख पर गंगाजल के छीटे दिये। कुछ समय में रानी को चेतना हुई। महाराज को देख कर वे फिर ढाह भर कर रो पड़ी। "हा महाराज! आप की यह कैसी दशा है, आपको यह चांडालपना कैसे प्राप्त हुआ। हा दैव! हमारा राजपाट नष्ट करके ही तुझे संतोष नहीं हुआ। जिन राजर्षि की देवता भी आकर वन्दना करते थे, आज वे चांडालों का सा दंड लिये हुए श्मशान की रक्षा कर रहे हैं। राजन्! आपकी यह दुर्दशा किस पाप के फलस्वरूप हुई। महाराज आप तो सदा छत्र-चँवरों के नीचे रहते थे, आपके तो सदा आगे पीछे सहस्त्रों सैनिक चला करते थे। आप इस काक, गृद्ध, कुत्ता, सियार, भूत, प्रेत, पिशाचों से भरे श्मशान के रक्षक कैसे हुए। हाय! आज आप जैसे धर्मात्मा राजर्षि अपने प्राण-

नाथ को चांडाल वेष में देख कर मेरा हृदय फटता क्यों नहीं। इसके टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं होते।"

इतना कह कर महारानीं दोनों हाथों से अपनी छाती को धुनने लगी, बालों को नोचने लगी और नखों से अपने अंगों को काटने लगी।

महाराज ने रानी की जब ऐसी विक्षिप्तावस्था देखी तो उन्होंने उन्हें पकड़ लिया। अब वे भूल गये कि मुझे रानी को छूना नही चाहिये। उन्होंने अपनी प्रियतमा शैव्या को हृदय से लगा लिया। रानी पुत्र शोक को भूल गई थीं। अब उन्हें रह रह कर पति के चांडाल होने की वेदना थी।

अर्ध रात्रि का समय था, सम्पूर्ण संसार सो रहा था। स्मशान भूमि की भयंकरता और भी बढ़ गई थी। कुत्ते सो रहे थे, सियार इधर-उधर मांस के लिये घूम रहे थे। कुछ काल पहिले जो लोगे मृतक को जलाने आये थे वे भी चले गये थे। चिताओं का धुआँ भरा हुआ था, स्मशान भूमि में तीन ही थे। राजा रानी और मृतक कुमार।

महाराज ने कुमार को गोद में लिटा लिया, महारानी के सिर पर हाथ रख कर उन्होंने उनके अपने मैले वस्त्र से आंसू पोंछे और कहा—"प्रिये ! तुम अधीर मत होओ। हमने कोई पाप नहीं किया है, हमने जो भी कुछ किया है, धर्मरक्षा के ही निमित्त किया है ?"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ! आपको यह चांडालपना कैसे प्राप्त हुआ ?"

इसपर महाराज ने आदि से अन्त तक सभी कथा कह सुनाई। महाराज कह रहे थे, रानी रोते-रोते सब सुन रही थी। पेड़ों पर बैठे गिद्ध, कर्कश शब्द करके बीच में हुँकारी दे रहे थे। जब महाराज अपनी सब कथा सुना चुके, तब राजा ने पूछा—"प्रिये ! कुमार रोहित की मृत्यु कैसे हुई ?"

इसपर रानी ने जिस प्रकार सर्पने उसे काटा था, उसका वृत्तान्त सुना दिया।

सब सुनकर महाराज रो पड़े। वे बड़ी देर तक रोते रहे। राजाको रोते देखकर रानी भी चिल्ला-चिल्लाकर रोती रही। रोते-रोते जब आँसू समाप्त हो गये, तब दोनों ही का हृदय कुछ हलका हुआ।

राजा बोले—"प्रिये ! अब तुम लौटकर अपने स्वामी उसी ब्राह्मण के घर जाओ। देखो, उनकी सावधानी से सेवा करना। इस बात का कभी अभिमान न करना कि मैं राजरानी हूँ। जो अपना स्वामी है, उसकी सेवा करना ही सेवक का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। यही शास्त्रों का सार सिद्धान्त है। तुम लौट जाओ। मैं तो इस रोहित के साथ ही आज अपने शरीर को भस्म कर दूँगा। अब अधिक सहन नहीं कर सकता। अब मुझे पृथिवी पर रहना रुचिकर नहीं।"

रानी ने कहा—"प्राणनाथ। आप तो पुरुष हैं,मैं तो स्त्री हूँ। स्त्रियों को पुत्र शोक कितना अधिक होता है, इसे पुरुष क्या जानें जब आप कुमार के साथ परलोक जा रहे हैं, तब मैं यहाँ रहकर क्या करूँगी। मैं अब लौटकर न जाऊँगी। मैं भी आपके साथ ही चिता पर चढ़ूँगी। जैसे अपने विवाह के

समय अग्नि की साक्षी देकर मेरा हाथ पकड़ा था। उसी प्रकार चिता पर भी मेरा हाथ पकड़े ही हुये चढ़ें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, कल्याणि ! जब तुमने ऐसा ही निश्चय किया है, तो हम इस विश्वनाथ की पुरी से भी उसी प्रकार साथ चले जिस प्रकार अयोध्या पुरी से साथ चले थे। यह कह कर महाराज ने एक बड़ी सी चिता स्वयं बनाई। उसके ऊपर कुमार रोहित के मृतक शरीर को रखा।

रानी के सहित उन्होंने चिता की प्रदक्षिणा की और हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हुए गद्-गद् कण्ठ से कहने लगे—"हे अशरण शरण ! प्रभो ! मैंने जो भी कुछ किया है, धर्म की रक्षा के निमित्त किया है। हे चराचर के स्वामी विश्वम्भर ! आपके अनन्त नाम हैं, धर्म ही आपका नाम है सत्य ही आपका स्वरूप है। आप आनन्द घन तथा चैतन्यस्वरूप है। आपको हृदय में धारण करके ही मैं इस शरीर का अन्त करना चाहता हूँ।" इस प्रकार स्तुति करके महाराज ज्यों ही चिता पर चढ़ने को उद्यत हुए। त्योंही साक्षात् चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा वहाँ प्रकट हुए। उनके पीछे इन्द्र, वरुण, कुवेर, धर्म, साध्यगण, विश्वेदेवा, मरुद्गण, नाग, सिद्ध, गन्धर्व एकादशी दोनों अश्विनीकुमार तथा अन्यान्य देवगण भी थे। आते ही देवताओ के राजा इन्द्र ने कहा—"राजन् ! आप ऐसा साहस न करे, आपने अपने सत्यधर्म के प्रभाव से अक्षय लोकों को जीत लिया है। ये सम्पूर्ण ब्रह्माड के अधीश्वर लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा जी समस्त देवताओं के सहित इन्हें दर्शन देने आये है। इनके समीप ही ये महर्षि विश्वामित्र भी खड़े हैं। इन्होने क्रोधवश लोभवश तुम्हारा सर्वस्व अपहरण नहीं किया था आप जैसा सत्यवादी

धर्मात्मा पुरुष दूसरा कोई भी संसारमें नहीं है। इसको प्रभावित करने को भगवान् की आज्ञा से यह लीला रची गई है। आपने स्वस्व त्याग दिया, किन्तु धर्म को नही छोड़ा। इसीलिये आजसे आप पुण्यश्लोक हो गये, जब तक सूर्य चन्द्र संसार मे रहेंगे, तब तक आपकी विमल कीर्ति भी अक्षुण्ण बनी रहेगी।

देवेन्द्र की बातों को महाराज ने सिर झुकाकर श्रवण किया, तथा समस्त देवताओं को उन्होंने भूमि में सिर लगाकर प्रणाम किया। तदन्तर धर्म बोले—"राजन्! आपसे बढ़कर धर्मात्मा इस पृथिवी पर कोई नही है। आप प्राणों का परित्याग न करें। यह सब तो मैंने ही स्वांग बनाया है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! महाराज हरिश्चन्द्र चुपचाप खडे देवताओं की सब बातें सुन रहे थे। उसी समय ऊपर से देवेन्द्र ने चिता पर अमृत की वृष्टि की, जिससे मरे हुए कुमार रोहित उठकर बैठ गये। देवताओं ने असंख्यों कल्प वृक्ष के पुष्प महाराज हरिश्चन्द्र के ऊपर वर्षाये। फिर इन्द्रने कहा—"राजन् आप मेरे साथ अपनी स्त्री और बच्चे को लेकर स्वर्ग चलिये, वहाँ इन्द्रासन का आनन्द से उपभोग करें।"

राजा ने कहा—"देवराज! मैं आपकी इस कृपा के लिये आभारी हूँ, किन्तु मैं तो पराधीन हूँ, दास हूँ, जब तक मेरा स्वामी चांडाल मुझे आज्ञा न देगा तब तक मै कहीं भी नहीं चल सकता।"

इतना सुनते ही धर्म हँस पडे और बोले—"राजन्! वह चांडाल और कोई नही। मैने ही स्वयं चाडाल का वेष बना लिया था। आपने तो मेरा भी उद्धार कर दिया। आप सुख-

पूर्वक स्वर्ग जायं। धर्म की अधीनता अधीनता नहीं। धर्म के लिये उठाया जाने वाला कष्ट कष्ट नहीं है। धर्म के लिये होने वाला अपमान अपमान नहीं है। जो मुझ धर्म की रक्षा करता है, उसकी मैं भी सदा रक्षा करता हूँ। आप सुख पूर्वक स्वर्गादि लोकों को जाकर वहाँ दिव्य सुखों को भोगें।"

इस पर इन्द्र बोले—"हाँ, महाराज ! चलिये अब तो आप जिनके अधीन थे, उन्होंने भी आपको आज्ञा दे दी।"

तब महाराज हरिश्चन्द्र बोले—"देवेन्द्र आपकी बड़ी कृपा है। मैं अकेले स्वर्ग नहीं चाहता। मैं स्वार्थी नहीं कि स्वय ही स्वर्गीय सुखों को भोगूँ। मैं तो प्रजा का सेवक हूँ। अयोध्या की मेरी समस्त प्रजा मेरे वियोग मे तड़प रही है, मैं उसे दुःखी छोड़कर अकेला स्वर्ग नहीं जा सकता। आप सबको स्वर्ग ले चलें तो मैं चलूँ।"

यह सुन कर शचीपति देवेन्द्र हँस पड़े और बोले—"महाराज अब भी आपके हृदय में प्रजा का अनुराग ज्यों का त्यों बना है इसीसे विदित होता है आप सच्चे नरपति हैं—आपका कल्याण हो। आइये मेरे साथ विमान पर विराजिये, ये बाबा विश्वामित्र भी यहीं विराजमान् हैं। ये आपके स्वामी धर्म भी साथ ही है। आइये मुझे कृतार्थ कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! देवेन्द्र के इतना कहते ही महाराज का शरीर दिव्य हो गया, वे वस्त्राभूषणों से अलंकृत दूसरे देवेन्द्र से प्रतीत होने लगे। महारानी शैव्या भी पहिली जैसी ही रूपवती हो गईं। वे महाराज की बगल में खड़ी हुईं, शची के समान दिखाई देती थीं। कुमार भी हँसते हुए महारानी

का अञ्चल पकड़े थे। देवराज ने उन्हें सम्मान सहित विमान में बिठाया और अयोध्या पुरी में लाकर उतार दिया।

विश्वामित्र जी ने प्रसन्नता पूर्वक महाराज को पुनः राजगद्दी पर बिठाया। देवताओं ने मृदङ्ग दुंदुभी आदि स्वर्गीय बाजे बजाये' अप्सराओं ने नृत्य किया। महाराज पार्थिव और स्वर्गीय पुष्पों से ढँक गये। विश्वामित्र जी ने उन्हें परम-तत्व का उपदेश दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कालान्तर में महाराज अयोध्या वासी जनता को साथ लेकर वैकुण्ठवासी हुए। तदनन्तर उनके पुत्र रोहित अयोध्या की राजगद्दी पर बैठे।"

छप्पय

श्वपच दास बनि मृतकवस्त्र धरि मरघट माहीं।
लेवें नृप तहँ बसहिं दार सुधि बिसरत नाहीं॥
डस्यो सर्प सुत गोद लिये शैब्या तहँ आई।
पहिचानी पुनि कथा भूप दुख सहित सुनाई॥
मृत सुत सङ्ग नृप नारिलै, जरिवे कूँ उद्यत भये।
त्यों ही देवनि सहित विधि, धर्म इन्द्र दरसन दये॥

वाहुक पुत्र महाराज सगर

(६३८)

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्माद्विनिर्मिता ।
चम्पापुरीं सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः ॥
भरुकस्तत्सुतस्तस्माद् वृकस्तयापि वाहुकः ।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ८ अ० १,२ श्लोक)

छप्पय

तन धन सरवसु तज्यो धर्म हरिचन्द न छोरचो ।
परी विपति पै विपति नहीं सत तैं मुख मोरचो ॥
गये नृपति बैकुण्ठ भये रोहित नृप श्रीयुत ।
रोहित के सुत हरित हरित के चम्प भये सुत ॥
चम्प नृपति चम्पापुरी रचीं वीरवर तिन तनय ।
नृप सुदेव है विदित जग, भये तासु सुत नृप विजय ॥

भगवान् जिसकी रक्षा करना चाहते हैं जिसका जीवन चाहते हैं, वह चाहे धधकती अग्नि में कूद पड़े, पर्वत से गिर

*श्रीशुकदेव जी कहते है–"राजन् ! हरिश्चन्द्र सुत रोहित हुए रोहित के हरित उसके चम्प हुए जिन्हों ने चम्पापुरी को बसाया । चम्प के सुत सुदेव हुए उनके आत्मज विजय हुए । विजय के भरुक और भरुक के वृक हुए । महाराज वृक के ही पुत्र बाहुक हुए जिनकी पृथिवी को शत्रुओं ने छीन लिया इसलिये वे अपने पत्नियों सहित वन में चले गये ।

जाय, अगाध जल मे बह जाय, अमोघ से अमोघ अस्त्र का लक्ष्य बन जाय, तीक्ष्ण से तीक्ष्ण विष का पान कर ले। फिर भी उसका वाल वाँका न होगा, फिर भी वह जीवित ही बच जायगा और जिसकी मृत्यु आ गई है, वह घर में बैठे बैठे शय्या पर लेटे-लेटे मर जायगा। जो जीवन को जिला नही सकता उसे मारने का भी अधिकार माधव ने नही दिया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित हुए जो अपने पिता के पश्चात् राज-सिंहासन पर बैठे। रोहित से धर्मात्मा यशस्वी पुत्र चम्प हुए, जिन्होने चम्पापुरी को बसाया। (जो कि चम्पारण के नाम से विख्यात है) महाराज चम्प के पुत्र सुदेव हुए। सुदेव के पुत्र विजय हुए जो शूरवीर और साहसी थे। उनके पुत्र भरुक हुए और भरुक के पुत्र वृक हुए। इन्हीं धर्मात्मा वृक के पुत्र राजर्षि बाहुक हुए।

महाराज बाहुक बड़े ही धर्मात्मा और प्रभु परायण थे। वे राजाओं की ओर विशेष ध्यान नही देते थे सदा पूजा पाठ और भगवच्चिन्तन में लगे रहते थे। पड़ोसी राजा तो सदा छिद्र ही देखते रहते है। उन्होने जब राजाको युद्ध से उदासीन देखा तो कई राजाओं ने एक साथ मिलकर उन पर सहसा चढ़ाई कर दी। महाराज युद्ध के लिये तैयार नहीं थे। बहुत से शत्रुओ ने चारों ओर से महाराज को घेर लिया। तब महाराज एक अपने परम विश्वसनीय सेवक के सहित अपनी सभी रानियों को लेकर एक सुरंग से बाहर निकल गये।

किले के भीतर ही एक सुरंग जाती थी, जो कई योजन

चलकर एक घोर अरण्य के दूसरे किले में निकलती थी। मह-राज रात्रि भर चलकर उस किले में पहुँचे। वहाँ से समीप ही महर्षि और्व का सुन्दर आश्रम था। रानियों सहित महाराज मुनि के आश्रम पर पहुँचे। मुनि ने पत्नियों सहित महाराज का स्वागत किया और सभी को ठहरने के लिये स्थान दिया।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ? शत्रुओं ने मेरी समस्त पृथिवी छीन ली है,अब मैं राज्य हीन होकर आपकी शरण में आया हूँ। मुनि ने कहा—राजन् पृथिवी कभी किसी की हुई भी है या आपकी ही होगी ? इस पृथिवी पर कितने कितने बड़े प्रतापी राजा हुए। मेरी मेरी कह कर न जाने वे कहाँ चले गये महाराज! आप जैसे साधु स्वभाव के राजा इस पृथिवी की रक्षा नहीं कर सकते। पृथिवी का पालन तो समरप्रिय शूरवीर भूप ही कर सकते है। आप यहाँ अरण्य में रहकर भगवान् का आराधन कीजिये, योग साधन कीजिये। आपके वंश में कोई ऐसा प्रतापी राजा होगा जो अपने पूर्वजों के गये हुए राज्य को लौटा लेगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! अब तो मैं आपकी शरण में आ गया हूँ, आप जो चाहें सो करें। जब तक मनुष्य को धनमद-राज्यमद या ऐश्वर्य का मद रहता है। तब तक वह अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझता। जब उसका मद चूर हो जाता है, तब वह सब ओर से हताश होकर साधु शरण में जाता है, साधु के समीप सभी को आश्रय मिलता है, सभी को त्राण मिलता है। जिनके कोई बन्धु नहीं उनके साधु बन्धु हैं, जिनका कोई सहारा नहीं उनके साधु ही सहारे है, जिनका कोई रक्षक नहीं उनके साधु ही रक्षक हैं। साधु ही ईश्वर हैं साधु ही सबके सच्चे हितैषी है।"

श्रीशुकदेवी जी कहते है--"राजन् ! ऐसा कह कर महाराज बाहुक वही रह कर भजन करने लगे। एक तो महाराज वृद्ध थे, दूसरे शत्रुओं द्वारा पराजित थे इसलिये वे अधिक दिनों तक जीवित न रह सके। कुछ ही काल में इस असार संसार को सदा के लिये परित्याग करके परलोक चले गये।

महाराज की बहुत सी रानियां थी। उनमे जो सबसे बड़ी पट्टमहिषी थी जिसे राजा भी अत्यधिक प्यार करते थे, उसे अपने पति के मृत्यु पर बड़ा दु:ख हुआ। उसने अपने पति के साथ सती होने का निश्चय कर लिया।

जिस समय रानी सोलहों शृंगार करके अपने पति की चिता पर चढ़ने को उद्यत हुई उस समय महर्षि और्व ने ध्यान से जान लिया कि रानी गर्भवती है। तब उन्होंने कहा—"बेटी ! तू धैर्य धारण कर। तुझे सती होने का अधिकार नहीं है। तेरे गर्भ मे चक्रवर्ती पुत्र है। तू इस गर्भ की सावधानी से रक्षा कर।"

रानी वास्तव में गर्भवती थी, यह बात उसके अंगों को देख कर ही विदित होती थी। मुनि के कहने से उसने सती होने का विचार त्याग दिया और बडे कष्ट से गर्भ की रक्षा करने लगी।"

इधर राजा की विधिवत् समस्त और्ध्व दैहिक क्रियायें की गई। राजा की रानी वही मुनि के आश्रम के समीप रहने लगी। छोटी रानिया बड़ी रानी से पहिले से ही द्वेष रखती थी। राजा भी बड़ी रानी को ही अधिक प्यार करते थे। उस समय तो सब राजा के शील संकोच से कुछ कह नहीं सकती थी, भीतर ही भीतर जलती रहती थीं। अब राजा तो रहे नहीं

उन्हें खुल कर द्वेष करने का अवसर मिल गया। इस बातसे उन्हें और भी दुःख हुआ, कि यह गर्भवती है, यदि इसके पुत्र हो गया, तो यह राजमाता हो जायगी, इसका बच्चा बड़ा होकर राजा हो गया, तो हम सब को दाइयो की भाँति रहना होगा।" यही सब सोच कर सब ने सम्मति की कि हत्या की जड़ यह गर्भस्थ बालक ही है, यदि किसी प्रकार रानी को विप दे दिया जाय, तो गर्भस्थ बच्चा भी मर जायगा और हमारी सौत यह रानी भी मर जायगी। यह सोचकर उन्होंने बड़ी युक्ति से किसी मोदक आदि मे रानी को विप दे दिया।

रानी तो भोली भाली थी, उसे अपने क्रूर कर्म करने वाली सौतों के षड्यन्त्र का कुछ भी पता नही था।

जब वह नित्य नियमानुसार भगवान् और्व को प्रणाम करने गई, तो मुनि ने आशिर्वाद दिया, पुत्रवती हो, सम्राट को जनने वाली हो।" फिर मुनि ने ध्यान से जो देखा तो उन्हे विप देने की बात विदित हो गई। इसलिये उन्होंने कहा—"कोई वात नहीं जो वस्तु पेट में है वह बिना जीर्ण हुए ज्यों की त्यों वनी रहेगी।"

शुकदेव जी कहते है—"राजन्! कुछ कालके पश्चात् परलोक वासी महाराज वाहुक की पत्नी ने पुत्र प्रसव किया। पुत्र के साथ ही वह गर (विप) भी उत्पन्न हुआ जिसे रानी की सौतों ने उसे भोजन के साथ दे दिया था। पुत्र गर के साथ उत्पन्न हुआ इसलिये महामुनि और्व ने उसका नाम सगर रखा। मुनि ने बालक के सभी क्षत्रियोचित जातिकर्ण नाम कर्ण आदि संस्कार कराये। शनैःशनैः वह बालक मुनि आश्रम

में बड़ा हुआ। महर्षि और्व ने उसे सम्पूर्ण अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा दी। धनुर्वेद विद्या में वह राजकुमार अद्वितीय हुआ। जब उसे विदित हुआ कि मेरे पिता के राज्य को शत्रुओं ने अप हरण कर लिया है तो उसने सैन्य संग्रह की और शत्रु पर चढ़ाई की। अपने पिता के गये हुए राज्य को फिर से लौटा लिया। जिन शत्रुओं ने मिलकर महाराज को राज्यच्युत किया था, उन सब को मार देने का महाराज सगर का संकल्प था। वे बड़े प्रतापी थे, अतः शत्रु बड़े घबड़ाये। जब उन्होंने अपने प्राण रक्षा का कोई अन्य उपाय नही देखा तो वे सब के सब मिलकर और्व मुनि के पास गये। वहा जाकर उन्होंने बड़ी दीनता के साथ मुनि के पैर पकड़ कर प्रार्थना की, कि प्रभो ! हमें आप अपने शिष्य से बचाइये। जैसे भी हो तैसे हमें प्राणदान दिलाइये।

मुनि तो दयालु ही ठहरे, उन्होने कहा–"अच्छी बात है, तुम लोग चिन्ता मत करो मै उससे कह कर तुम्हें प्राणदान दिला दूँगा। यह सुन कर वे लोग बहुत प्रसन्न हुए। मुनि ने सगर से कह दिया—'भैया इन्हें मारना मत। अब सगर क्या करते, उन्हें क्रोध तो बहुत अधिक आ रहा था। ये सब के सब धर्म से विमुख क्रूर कर्मी और कपटी थे।"

गुरु की आज्ञा से राजा ने उन्हें मारा तो नहीं, किन्तु उन्हें वर्णाश्रम धर्म से बहिष्कृत कर दिया। क्योंकि ऐसे दुष्ट और विश्वासघाती लोग समाज मे स्वतन्त्रता के साथ रहेंगे, तो सम्पूर्ण समाज को भ्रष्ट कर देंगे। ऐसे लोगों में कोई ऐसा चिन्ह बना देना चाहिये जिससे लोग समझ लें, कि ये विश्वासघाती और देशद्रोही हैं।

इसलिये महाराज सगर ने एक मर्यादा बाँधदी । ताल,जघ यवन, शक, हैहय और बर्बर जाति के लोग वर्णाश्रम धर्म में न रह सकेंगे । यद्यपि पहिले ये लोग क्षत्रिय ही थे, किन्तु अत्यन्त धर्म विरुद्ध आचरण करने से उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया । महाराज ने उनको आज्ञा दी कि तुम एक विशेष चिन्ह रखा करो जिससे लोग समझ जायँ कि तुम समाज बहिष्कृत हो । किन्हीं को तो कह दिया, तुम सम्पूर्ण सिर को मुड़ाया करो । किन्ही से कहा—"सिर तो मुड़ा लिया करो, किन्तु दाढी मूंछ रखा करो । शिखासूत्र मत धारण करो । किसी से कह दिया तुम बालों को कभी बाँधा मत करो, सदा खुले बाल रखा करो, आधे रखा करो । किन्ही से कहा तुम मुक्त कण्ठ होकर एक कपड़ा लपेटे रहा करो । किसी से कहा—तुम केवल एक कौपीन ही पहिना करो ।" इस प्रकार सब के पृथक् पृथक् चिह्न बना दिये । तभी से ये समाज मे वर्णाश्रम धर्मविहीन पंचम वर्ण के लोग बढ़ गये ।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार महाराज बाहुक के पुत्र परम प्रतापी महाराज सगर हुए । जिन्होंने अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके अपने वंश को संसार में स्थापित किया । इन्हीं पुत्रों ने पृथिवी को खना था, जिससे समुद्र का नाम सागर पड़ गया ।"

इस पर राजा परीक्षत ने पूछा—"प्रभो ! सगर पुत्रों ने पृथिवी को क्यों खना ? और किस कारण क्षार समुद्र का नाम सागर पड़ा, कृपा करके इस कथा को मुझे सुनाइये ।"

यह सुनकर श्री शुक बोले—"राजन् ! मैं महाराज सगर के पुत्रों की परम पावन और प्रसिद्ध कथा को सुनाता हूँ, आप सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

भये विजय के भरुक भरुक के वृक तिन वाहुक।
शत्रुनि छीन्यो राज्य गये वन पृथिवी पालक॥
वनमहँ नृप तनु तज्यो गर्भिनी तिनकी रानी।
सौतिनि गर दै दयो सगर सुत जनम्यो मानी॥
भये सगर अति ही बली, शत्रुनि को शासन कर्यो।
दान पुण्य मख अधिक लखि, सुरपति हूँ तिन ते डर्यो॥

महाराज सगर का अश्वमेध यज्ञ

(६३६)

औरवोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम् ।
तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ॥

(श्री भा० ६ स्क० ८ अ० ८ श्लो)

छप्पय

द्वै रानी तिन हतीं एकके सुत असमञ्जस ।
दूसरि साठिसहस्र जने सुत मानी नीरस ॥
अश्वमेध नृप सगर धूमतें यज्ञ रचायो ।
भय वश सुरपति आइ यज्ञको अश्व चुरायो ॥
कपिलाश्रम महँ इन्द्रने, मख हय बाँध्यो कपट करि ।
साठिसहस सुत भूमि खनि, पहुँचे नाना रूप धरि ॥

सुनते हैं, सूकरी वर्ष में तीन चार बार प्रसव करती और एक साथ उसके कई बच्चे होते हैं। वे बुरी वस्तुएं खाकर जीवन बिताते हैं। कोई उन्हें छूता नहीं सब उनसे घृणा करते

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! महाराज सगरने अपने गुरु और्व मुनि की बतायी हुई विधि से अश्वमेध यज्ञ द्वारा सर्वात्मस्वरूप ईश्वर का भजन किया। उनके छोड़े हुए अश्वमेध के घोड़े को पुरन्दर इन्द्र हर ले गये।"

हैं। पैदा होते हैं मर जाते है या मार दिये जाते हैं। इसके विरुद्ध सुनते हैं, सिहनी सम्पूर्ण आयु में एक ही सिंह पुत्र को जनती है, जो जन्मते ही बड़े-बड़े मत्त गजराजों के मस्तकों को विदीर्ण करने का साहस करता है, बिना बनाये वन का राजा बन जाता है। सभी का शिरोमणि बनकर रहता है। आकाश में कितने तारे होते है, टिमि टिमाते रहते है, इतने अधिक होने पर भी वे अंधकार को दूर करने में समर्थ नही होते। जहाँ एक चन्द्रमा उदय हुआ, कि सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है, समस्त तारे फीके पड़ जाते है। इसलिये चाहे माता एक ही पुत्र को उत्पन्न करे, किन्तु वह दानवीर, ज्ञानवीर, धर्म वीर शूरवीर या प्रेमवीर, हो यदि इनमें से कोई नही है और जो पशु पक्षी कीट पतंगों की भांति ही आहार निद्रादि में ही जीवन विताने वाला हो, तो ऐसे सहस्रों पुत्रों को जनने वाली मानव माता में तथा शूकरी कूकरी में क्या अंतर है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! मैंने बाहुकपुत्र महाराज सगर के जन्म का चरित्र सुनाया, अब मैं उत्तर चरित्र को कहता हूँ। आप इस पावन चरित्र को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

महाराज सगर ने अपने पिता के खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया। जब वे चक्रवर्ती सम्राट् हो गये, तब उन्होंने अपना विधिवत् विवाह किया। महाराज के दो रानियाँ थीं एक का नाम केशिनी और दूसरी का नाम सुमति था। दोनों रानियों में से किसी के भी कोई सन्तान नही थी, इससे राजा रानी दोनों ही चिन्तित रहते थे। एक बार महाराज के गुरु भगवान् और्व पधारे, दोनो हीं रानियों ने आकर मुनिके चरणों

में प्रणाम किया और सन्तान की कामना से उनके पैर पकड़े।

महामुनि रानियोंके मनोगत भावों को अपनी ज्ञान दृष्टि से समझ गये और बोले—"तुम दोनों में से जो चाहे वह एक तो वंश धर एक पुत्र माँगले और दूसरी साठ सहस्र पुत्र माँगले। बड़ी रानी केशिनी ने कहा—"प्रभो! मुझे तो एक ही वंशधर पुत्र दे दें।'

दूसरी सुमतिने कहा—"महाराज! मुझे आप साठ सहस्र पुत्र दें, जिससे मैं बहुत से पुत्र की जननी कहलाऊँ।"

मुनिने कहा—'अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।' यह कह कर मुनि राजा से पूजित और सत्कृत होकर अपने आश्रम पर चले गये। कालान्तर में बड़ी रानी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह उत्पन्न होते ही सिड़ी पागलों का सा व्यवहार करता था। बातें बोलता था, तो अंडबंड। कुछ पूछो, कुछ उत्तर दे। इसलिये सब ने उसका नाम असमञ्जस रख दिया।

दूसरी रानी सुमति के गर्भ से एक बड़ी भारी तूमी सी उत्पन्न हुई। मुनिकी आज्ञा से साठ हजार घृतके कलश मँगाये गये तब उस तूमीमे से धायने एक एक बीज निकाल निकालकर एक एक घड़ेमे रखा। कुछ काल में उन घड़ों में पुरुषों की भाँति बच्चे बन गये औन वे हृष्ट पुष्ट होकर निकले। सगर के वे साठ सहस्र पुत्र-बड़े ही बली थे। वे बड़े लम्ब तड़ंगे और बृहद् डील डौल वाले थे। वे समुद्र के ऊपर बिना रोकटोक के चल सकते थे। आकाश में उड़ सकते थे। पर्वतों को चूर्णकर सकते थे। उन्होंने अपने बाहुबल से सभी को भयभीत बना रखा था। समुद्र पर्वत, नदी, नद सभी उनके नाम से थरथर कांपते,

थे। जब वे पृथिवी पर चलते थे, तो पृथिवी उसी प्रकार डग-मग डगमग करती थी, जिस प्रकार हाथी के चढ़ने पर नौका डग मगाती है। उनके कारण सभी प्रजा के लोग दुखी थे। किन्तु राजा क्या करते। वे सब के सब इतने बली थे, कि देवता भी उनसे डरते थे, उनके साथ युद्ध करने का साहस किसी को नहीं था।

महाराज सगर का जो पुत्र असमञ्जस था, वह तो सब व्यवहार पागलों का सा ही करता था। वह सबमें बड़ा था। युवकभी होगया था, फिर भी वह बुद्धिहीनो की भाँति व्यवहार करता था। महाराज ने उसका विवाह भी कर दिया था कि विवाह होने से सम्भव है, इसकी बुद्धि सुधर जाय। जब मनुष्य पर गृहस्थ का भार पड़ जाता है तो सब पागलपन भूल जाता है, बुद्धि ठीक ठिकाने आजाती है, किन्तु सोते को जगाया जा सकता है जो जागता हुआ भी सोने का स्वाँग रचे हुए है, उसे कौन जगा सकता है। वह यथार्थ में पागल तो था नहीं। वह पूर्वजन्म का कोई योगभ्रष्ट योगी था। किसी कारण से उसे जन्म ग्रहण करना पड़ा। अब उसने देखा यदि मैं बुद्धिमान बनकर रहूँगा, तो मुझे राजा बना देंगे, राजकाज में फँसकर सम्भव है, मेरा फिर पतन हो जाय। इसलिये उसने अपने को इस प्रकार बनावटी पागल प्रसिद्ध कर दिया। जब विवाह हो गया और एक अंशुमान् नाम का बच्चा भी हो गया। तब तो उसकी व्यग्रता और भी बढ़ी। उसने सोचा—"ऐसा न हो अब मैं फँस जाऊँ। बिना पिता की आज्ञा लिये जाना उचित नहीं, माँगने पर पिता आज्ञा देंगे नहीं।" इसलिये उसने अपने पागलपन को और भी अत्यधिक बढ़ा दिया। अब वह क्या करता, कि जो लड़के सरयू किनारे खेलते रहते, उन्हें उठा उठाकर सरयू जी के जल

में फेंक देता। वे डूबने लगते, तब वह ताली बजा बजाकर हँसता रहता। इस पर प्रजा के लोग मिलकर महाराज के समीप गये और बोले—"राजन्! या तो आप अपने पुत्र को ही रखिये या हमें ही। महाराज! ऐसा राजकुमार तो हमने कोई देखा नहीं। यह अपनी प्रजा के बच्चों को वधिकों की भाँति जल में डुब देता है, ऐसा कुमार यदि राजा होगा, तो प्रजा की क्या रक्षा करेगा?"

प्रजा के लोगों के ऐसे वचन सुनकर राजा को अत्यधिक दुःख हुआ। उन्हें असमञ्जस पर बड़ा क्रोध आया और उसे बुलाकर डाँटते हुए बोले—"तू बड़ा दुष्ट है रे? मेरी प्रजा के बालकों की हत्या करता है। तू अभी मेरे राज्य से निकलजा। फिर कभी भी मुझे मुँह न दिखाना।"

कुमार असमञ्जस तो यह चाहते ही थे, अतः वे मन ही मन अत्यंत प्रसन्न होकर अयोध्यापुरी को छोड़कर चले गये। जाते समय उन्होंने अपने योग का अद्भुत चमत्कार दिखाया। जितने लड़को को उन्होंने सरयू जी के जल में फेंककर डुबा दिया था, उन सबको पुनः अपने योगबल से निकाल कर जिला दिया। जब वे सब बालक हँसते हुए अपने अपने घर पहुँचे, तब तो सभी लोग परम विस्मित हुए। वे सब मिलकर महाराज के समीप पहुँचे और बोले—"महाराज, हमसे बड़ी भूल हुई। कुमार तो कोई बड़े भारी पहुँचे हुए सिद्ध थे। देखिये, जितने हमारे लड़के डुबाये थे, वे सब तो ज्यों के त्यों जीवित होकर हमारे घरों में आगये।"

यह सुनकर राजा को भी बड़ा दुःख हुआ। किन्तु अब

पछताने और दुःख करने से होता ही क्या था, असमञ्जस तो चले गये। महाराज सगर उनके पुत्र अंशुमान् को ही पुत्र मानकर पालन करने लगे। अंशुमान् भी महाराज की आज्ञा में सदा तत्पर रहते और सर्वात्म भाव से उनकी सेवा में ही सदा लगे रहते।

अब महाराज ने एक बड़ा भारी अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया। पूजन करके विधिवत् सर्वलक्षण सम्पन्न यज्ञीय अश्व छोड़ा गया। महाराज सगर ने अपने साठ हजार पुत्रों को आज्ञा दी, कि वे घोड़े की रक्षा के लिये उसके पीछे पीछे जायँ और जो राजा घोड़े को पकड़े उससे युद्ध करें।

राजा की आज्ञा पाकर वे सब के सब गरजते तरजते और भयंकर शब्द करते हुए घोड़े के पीछे पीछे चले, घोड़ा भी अपनी इच्छानुसार अनेक प्रदेशों में घूमने लगा। सगर पुत्रों के सम्मुख किसका साहस था, जो घोड़े को पकड़े। इसलिये कहीं भी युद्ध का अवसर नहीं आया।

श्री शुकदेवजी कहते हैं–"राजन्! इन्द्र का तो स्वभाव ही है, किसी की बढ़ी हुई कीर्ति को देखकर उससे ईर्ष्या करना। इसलिये इन्द्र ने महाराज के अद्वितीय यज्ञ में विघ्न डालने का निश्चय किया। वे गुप्त रूप रखकर महाराज के यज्ञीय अश्व को चुरा ले गये। सगर पुत्रों ने सर्वत्र अश्व को खोजा किन्तु उन्हें कहीं भी अश्व न मिला। पृथिवी पर यदि कहीं होता तो मिलता भी। इन्द्र तो समुद्र के भीतर से उसे पाताल में ले गये और जहाँ सत्वावतार भगवान् कपिल तपस्या कर रहे थे, उस स्थान में ले जाकर उसे बाँध दिया और वे स्वर्ग को चले गये।

जब राज पुत्रों को कहीं भी अश्व न मिला तो वे लौटकर अपने पिता के पास गये और हाथ जोड़ कर बोले—"पिताजी ! यज्ञीय अश्व को तो किसी ने चुरा लिया।"

महाराज सगर ने डाँट कर कहा—"तुम लोग कहाँ चले गये थे ?"

सागर पुत्रों ने कहा—"पिताजी ! हम तो सब साथ ही थे, फिर भी पता नहीं कि कैसे किसने अश्व को चुरा लिया।"

राजा बोले—"तुम लोग बड़े मूर्ख हो, मैंने तुमको अश्व की रक्षा के लिये भेजा था। तुम साठ हजार होकर भी एक अश्व की रक्षा न कर सके, जाओ स्वर्ग में, पातल में, पृथिवी में तथा अन्य भी जिस लोक में घोड़ा हो उसे ढूँढ़कर लाओगे नहीं फिर अच्छी बात नही होगी। अश्व बिना यज्ञ समाप्त कैसे हो सकता है ?"

पिता की ऐसी आज्ञा सुनकर वे सबके सब क्रोध करके चले, पहिले तो उन्होंने समस्त पृथिवी को खोजा। जब पृथिवी पर घोड़ा नहीं मिला, तो उन्होने पृथिवी को खोदना आरम्भ कर दिया। महाराज सगर से पहिले यह भारत वर्ष अन्य आठों वर्षों से मिला हुआ था। इलावृत वर्ष बीच में था और जैसे कमल की कर्णिका के चारो ओर पंखुड़ियाँ होती हैं, वैसे ही शेष आठों वर्ष उसके चारों ओर थे। तब जाने वाले पुरुष भारत से ही इलावृत हरिवर्ष आदि वर्षों में जा सकते थे। इन सगर के पुत्रों ने यज्ञीय अश्व के अन्वेषण के निमित्त भारतवर्ष के चारों ओर भूमि को खोद डाला जिससे इस वर्ष का इलावृत आदि सेभी वर्षों के सम्बन्ध विच्छेद होगया। खोदने से इस भारतवप

के भी आठ उपद्वीप हो गये। कन्या कुमारी से हिमालय तक वर्णाश्रमी आर्यों के रहने की भूमि हो गई। इसलिये इतनी ही भूमि को भारत कहने का चलन पड़ गया।शेष सात उपद्वीप तथा अन्य छोटे-छोटे द्वीपों में अवर्णाश्रमी अनार्य निवास करते हैं यह सब भूमिका उलट पुलट सगर के ६० हजार पुत्रों ने ही किया। पृथिवी को खोदते-खोदते, वे पूर्वोत्तर दिशा में कपिल मुनि के आश्रम पर पहुँच गये वहाँ उन्होंने घोड़े को बँधा देखा।

छप्पय

सप्तद्वीपके मध्य द्वीप जम्बू अति पावन।
तामें है नव वर्ष इलावृत मध्य सुहावन॥
कमल कर्णिका सरिस इलावृतकूँ पहिचानो।
अन्य-आठ जो वर्ष कमलदल सम तुम मानो॥
पहिले नौऊ एक रहे सगर सुतनि खोदी मही।
तातै भारत भूमि चहुँ, दिशितै ह्वै गइ जलमई॥

सगर के साठ सहस्र सुतों का विनाश

(६४०)

न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता ।
नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि ।
कथं तमो रोषमयं विभाव्यते ।
जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

कपिलाश्रम पै अश्व निरखि नृपसुत हरषाये ।
कोलाहल अति करयो कपिल मुनि चोर बताये ॥
इन्द्र रच्यो षडयन्त्र बुद्धि नृप सुतनि बिगारी ।
मुनि मारन हित चले देहिं गिनि गिनि कें गारी॥
कोलाहल सुनि सहजही नेत्र कपिल के खुलि गये ।
दृष्टि परत निज पाप तें, सगरपुत्र सब मरि गये ॥

एक कहानी है, कोई बुद्धिमान् दुर्बल पुरुष लघुशंका कर रहे थे। उसी समय एक हृष्ट पुष्ट दुष्ट पुरुष आया। उसे एक

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जो कहते हैं कि सगरपुत्र कपिल मुनि के कोप से नष्ट हो गये, यह बात उचित नहीं, क्योंकि जो ज़गत को पावन बनाने वाले हैं, ऐसे सत्यमूर्ति भगवान् कपिल मे, भला तमोगुण की संभावना कैसे हो सकती है ? क्या कभी पृथिवी रज का आकाश के साथ सबन्ध सम्भव है ?

विनोद सूझा उसने सोचा—"यह कितना दुर्बल पुरुष है इससे खिलवाड़ करूँ। यह सोचकर उसने उस दुर्बल पुरुष को धक्का दिया। धक्का लगते ही वह औंधे मुंह गिर पड़ा। यह देखकर बहुत हँसा। दुर्बल आदमी ने सोचा—"इससे क्रोध करने से तो मैं जीत न सकूँगा।" इसलिये उसने दो रुपये निकाल कर उसे दिये और प्रणाम करके चला गया।"

इस बात से वह दुष्ट अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। उसने सोचा-"यह तो आय का अच्छा उपाय हाथ लगा।" अब वह जिसे लघुशंका करते देखे उसे ही ढकेल दे और कहे—"लाओ दो रुपये। कोई डर कर दे देता कोई भाग जाता। एक दिन उसने किसी अपने से बड़े बली को ऐसे ही ढकेल दिया। उसने मारी जो चपत, सो पूरी बत्तीसी झड़ गई। सब किये का फल मिल गया। सारांश यही है, कि दुर्बलों के ऊपर अत्याचार कुछ ही दिनों चल सकता है। जहाँ कोई अपने से बली मिल गया, कि सब अभिमान नष्ट हो जायगा। क्योंकि संसार में बली को बली कहीं न कहीं मिल ही जाता है।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! सगर के साठ हजार पुत्रों ने कपिल मुनि के आश्रम पर जब अपने पिता के यज्ञीय अश्व को देखा, तब तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। इन्द्र की माता के कारण उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, उनका विवेक नष्ट हो गया था, उन्होंने समझा अश्व को चुराने वाला चोर यही है, हमें देखकर मिथ्या समाधि लगाकर यहाँ बैठ गया है। अतः वे सबके सब अस्त्र शस्त्र लेकर भगवान् कपिल को "चोर है चोर है, मारो काटो, ऐसा कहते हुए उनके ऊपर दौड़े। हल्ला गुल्ला होने से भगवान् की समाधि खुल गई। उनकी दृष्टि

तड़ते ही सगर के साठ सहस्र पुत्र सब के सब जल कर भस्म
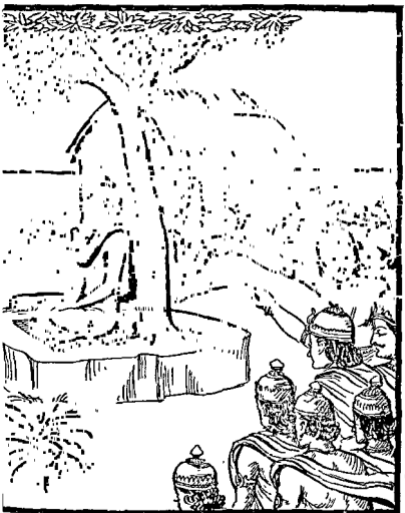
हो गये।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने कहा—"भगवन् ! भगवान् कपिल तो ज्ञानावतार हैं, उन्होंने क्रोध करके तनिक से अपराध पर साठ सहस्र सगर सुतों को शाप देकर दग्ध क्यों कर दिया ?"

यह सुनकर भगवान् शुक बोले—"राजन् ! ये सगर पुत्र मुनि शाप से दग्ध नही हुए। अपने पाप से ही ये सब के सब भस्म हो गये। आप ही सोचिये, जो साक्षात् सत्व के स्वरूप हैं ज्ञान के अवतार है, उनको क्रोध कैसे आ सकता है ? वे तो अपने पापों से ही मरे हुए थे। भगवान् की दृष्टि पड़ने पर तो उनका पाप से भरा घड़ा फूट गया।"

इस पर महाराज ने कहा—"प्रभो ! जो अपने प्रतिकूल आचरण करता है, ऐसे अपने प्रतिपक्षी पर क्रोध आना स्वाभाविक ही है। ऐसा सम्भव है कि वे लोग क्रोध करके दौड़े हों और भगवान को क्रोध आ गया हो।"

यह सुनकर श्री शुक हँस पड़े और बोले—"राजन्! क्रोध होता है अज्ञान से। जो सांख्यमयी सुनौका के निर्माण कर्ता है, उन परमात्म स्वरूप सर्वज्ञ भगवान् कपिल को यह पराया है यह अनुकूल है यह प्रतिकूल है, यह शत्रु है, यह मित्र है ऐसी भेद बुद्धि कैसे हो सकती है ? इसलिये यह कहना उचित नहीं, वे सब कपिल मुनि के कोप से भस्म हुए। वे तो अपने पापो के कारण उपयुक्त अवसर आने पर अपने शरीर से ही प्रकट होने वाली अग्नि से ही जल कर भस्म हो गये।

सगर पुत्रोंके जलकर भस्म हो जाने पर घोड़ा वही रहने लगा। महामुनि अपने ध्यान में निमग्न हो गये। महाराज सगर को कुछ पता ही नहीं था, क्या हुआ।

जब वहुत दिनों तक प्रतिक्षा करते रहने पर भी वे साठ सहस्र पुत्र अश्व को लेकर नहीं आये, तब महाराज को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने पौत्र अंशुमान् से कहा—"वत्स ! तुम्हारे सब के सब चचा लोग अश्वमेध के घोड़े को खोजने गये हैं, किन्तु अभी तक लौटकर नही आये क्या बात है। वैसे तो सब के सब शूरवीर बली योद्धा और सर्वजित् थे। उन्हें कोई संग्राम में तो नही हरा सकता था। अन्य ही कोई अघटित घटना घट गई है। मैं स्वयं तो यज्ञ-दीक्षा में दीक्षित हूँ, अतः जा नहीं सकता। तुम जाओ और अपने चाचाओ का अन्वेषण करो।

अपने पितामह की आज्ञा मानकर अंशुमान् अश्वके अन्वेपण के निमित्त चले। पृथिवी पर सर्वत्र खोजने पर भी जब उन्हें अश्व का पता नही मिला, तो वे अपने चाचाओं के खोदे मार्ग से ही ढूंढ़ते ढूंढ़ते पाताल में पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्या देखा, कि भगवान् कपिल समाधि में निमग्न हैं, यज्ञीय अश्व वहाँ छूटा हुआ हरी हरी घास चर रहा है, साठ सहस्र भस्म की ढेरियाँ वहाँ पड़ी हैं।

अब तो अंशुमान् सब कुछ समझ गये। उन्होंने अत्यन्त ही करुण शब्दों में भगवान् की स्तुति की और कहा"—हे सर्व भूतात्मन! हे भगवन्! आज आपका दर्शन पाकर हमारी विपयों की उत्कट अभिलाषा समस्त कर्मों का बन्धन और इन्द्रियों का आश्रय रूप हमारा सुदृढ़ मोहपाश नष्ट हो गया है। हे प्रभो ! आप मुझ पर कृपा करें और मुझे अपनी करुणामयी दृष्टि से अवलोकन करें"

श्री शुकदेव जी कहते है—राजन् ! उस बालक अंशुमान्

की ऐसी अद्भुत विनय और विशुद्ध भक्ति को देखकर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"वत्स ! तुम मुझसे क्या चाहते हो ?"

हाथ जोड़कर अंशुमान् ने कहा—"हे अशरण शरण ! मैं यह चाहता हू, कि अपने पितामह की आज्ञा का मैं पालन कर सकूँ उनके यज्ञीय पशु को मैं आपकी कृपा से प्राप्त कर सकूँ और उसे ले जाकर उन्हें दे दूँ, जिससे वे अपने यज्ञ को समाप्त कर सकें। दूसरी प्रार्थना मेरी यह है, कि ये मेरे सब के सब चाचा जो यहाँ भस्म हुए पड़े हैं, इनका किसी प्रकार से उद्धार हो सके। इन्हें चिरकाल तक ब्रह्मद्रोही आदि पापो के कारण अधिक नरक यातनाये न सहनी पड़े।"

यह सुन कर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान कपिल बोले—"देखो बेटा ! तुम्हारे पितामह के यज्ञ का अश्व यह सम्मुख चर रहा है, इसे तुम ले जाओ जिससे तुम्हारे पितामह-यज्ञ को पूर्ण कर सकें, रही तुम्हारे चाचाओ की बात, सो भैया इनका उद्धार तो असम्भव है।"

हाथ जोड़कर अंशुमान् ने कहा—"प्रभो! सम्भव असम्भव को बनाने वाले तो आप ही है। आपके लिये क्या सम्भव क्या असम्भव ? फिर भी आप हमें इनके उद्धार का जो उपाय बतावेंगे,उसे आपही की कृपासे हम पूर्ण करनेका प्रयत्न करेंगे।"

यह सुन कर कुछ सोच कर भगवान् बोले—"देखो, एक उपाय तो है। इनके न तो दाह संस्कार हुए हैं, न इनका जल तर्पण पिण्ड दान आदि ही हुआ है। ये अपने प्रबल पापों के कारण ही नष्ट हुए है। इनका उद्धार असम्भव होते हुए भी एक उपाय है।

नम्रता के साथ हाथ जोड़कर अंशुमान् ने कहा"—वह क्या उपाय है भगवन् ?

भगवान् बोले—"यदि किसी प्रकार तुम गङ्गा जी को यहाँ ले आओ तो उनके जल के स्पर्श से तो इनका उद्धार हो सकता है। मनुष्य चाहे कितना भी पापी क्यों न हो, कहीं भी उसकी मृत्यु क्यों न हुई हो, यदि उसके शरीर भस्म या अस्थि ही लाकर गङ्गा जी में डाल दी जायँ, तो वह सर्व पापों से विमुक्त होकर स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है। यदि तुम गङ्गा जी को यहाँ ला सको, तब तो इनका उद्धार हो सकता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं।"

यह सुनकर कुमार अंशुमान् ने भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य की और घोड़े को लेकर अपने पितामह के समीप गये। अश्व को पाकर महाराज सगर ने यज्ञ समाप्त किया, उन्हें पुत्रों के मरने पर कुछ शोक न हुआ। अन्त मे वे अपना सब राज पाट अंशुमान् को सौंप कर तपस्या करने वन को चले गये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! महाराज अंशुमान् अपने चाचाओ के उद्धार के लिये गङ्गा जी को लाने के लिये प्रयत्न करने लगे।"

छप्पय

सुत नहिं आये सोचि सगर ने पौत्र पठाये।
अंशुमान् चलि दये कपिल मुनि आश्रम आये॥
कुमर विनय अति करी महामुनि अति हरषाये।
गङ्गा लाओ पितर हेतु ये वचन सुनाये॥
अश्व पाइ मख पूर्ण करि, सगर तपोवन चलि दये।
तदनन्तर मनु वंश के, अंशुमान् भूपति भये॥

अंशुमान् सुत दिलीप

(६४१)

अंशुमांश्च तपस्तेपे गङ्गानयनकाम्यया ।
कालं महान्तं नाशक्नोत्ततः कलेन संस्थितः ॥
दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेयिवान् ।
भगीरथस्तस्य पुत्रस्तेपे स सुमहत्तपः ॥ *

(श्री भा ६ स्क० ६ अ० १, २ श्लोक)

छप्पय

अंशुमान् तप कर्यो अवनि पै गङ्गा आवैं ।
मृतक पितर पय परसि नरक तजि सुरपुर जावैं ॥
भये कुमार दिलीप राज तजि जाइ बसे बन ।
गङ्गा आईं नहीं स्वर्ग नृप गये त्यागि तन ॥
कुमर दिलीप पराक्रमी, पितु पीछे भूपति भये ।
गङ्गा हित तप करन कूँ, हिम गिरि पै तेहू गये ॥

यथार्थ पुत्र वही है जो पिता के प्रारम्भ किये कार्य को पूर्ण करने का सतत प्रयत्न करे। पुन्नामक नरक से पितरों का उद्धार

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! गंगा जी के लाने के निमित्त महाराज अंशुमान् ने बहुत वर्षों तक तप किया, किन्तु वे गंगा को लाने में समर्थ न हो सके और काल के गाल में चले गये। उनके पुत्र दिलीप ने भी उन्ही की भांति तप करते करते तनु त्यागा । दिलीप के पुत्र महाराज भगीरथ हुए उन्होंने भी गंगा जी को लाने के लिये घोर तप किया ।

पुत्र ही कर सकते है, इसीलिये पितर सदा ऐसी मनोकामना करते रहते है, कि हमारे वंश में ऐसे लोग उत्पन्न हों, जो कभी वंश विच्छेद न होने दें। वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखें। इसीलिये सभी सद्गृहस्थ सत्पुत्र की कामनायें करते हैं, और पुत्र प्राप्ति के लिये शक्ति भर प्रयत्न करते रहते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज सगर जब राजपाट छोड़कर और अंशुमान् को समस्त पृथिवी का राज्य भार सौंप कर वन को चले गये तब अंशुमान् को रात्रि दिन यही चिन्ता लगी रहती थी, कि कैसे गगाजी आवें और कैसे हमारे पितरों का उद्धार हो। वे सदा यही सोचा करते थे। उनके एक पुत्र भी हो गया, जिसका नाम दिलीप रखा गया। कुमार दिलीप बड़े ही तेजस्वी और होनहार थे, जब वे कुछ बड़े हुए, तो महाराज अंशुमान् पृथिवी का राज्य भार उन्हे सौंपकर गङ्गाजी को लाने के लिये तप करने चले गये। वे हिमालय पर जाकर गंगा जी को प्रसन्न करने के निमित्त अत्यन्त घोर तप करने लगे, किन्तु गंगाजी का आना कोई सहज काम तो था, ही नही। गङ्गाजी उनकी तपस्या से प्रसन्न नहीं हुई। कुछ काल में वे इस लोक को त्याग कर स्वर्ग सिधार गये। गङ्गाजी को लाने और अपने पितरों के उद्धार की बात उनके मन की मन में ही रह गई।

दिलीप ने जब सुना कि मेरे पिता अकृत कार्य होकर ही स्वर्ग सिधार गये। गङ्गाजी के लाने की उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई, तो वे अत्यन्त दुखी हुए। किन्तु वे करते क्या, उनके तब तक कोई सन्तान नहीं थी। कुछ काल के पश्चात उनके पुत्र उत्पन्न हो गया, जिसका नाम भगीरथ रखा गया। कुमार भगीरथ, बड़े ही भगवद् भक्त, शान्त, अध्यवसायी और साहसी

आभा से सामने का पर्वत शुभ्र होने पर भी अत्यन्त शुभ्र हो रहा था। पान की लालिमा से रंगे हुए अधरों की कांति जब हिमाच्छादित पर्वतों पर पड़ती तो ऐसा लगता था मानों आकाश का इन्द्रधनुष उतर कर हिमशृंगों पर घूम रहा है। उनके कंठ में मणिमुक्ताओं की मालायें शोभा दे रही थी। उनकी रेशमी नीली साड़ी आकाश की नीलम को तिरस्कृत कर रही थी। वे हरी कंचुकी से ढके उनके पीन पयोधर सन्तानों को अमृत पिलाने के निमित्त हिलते हुए व्यग्रता सी प्रकट कर रहे थे। क्षीणकटि के कारण वे मकर पर बैठी हुई सुवर्णलता के समान हिल सी रही थीं। लाल लहँगा पर जो सुवर्ण की चित्रकारी हो रही थी, उससे उनका सम्पूर्ण अंग दमक रहा था। वे अपने युगल उरुओं को मकर की पीठ से सटाये हुए थी। वे मंद मंद मुसकरा रही थी।"

महाराज भगीरथ नेत्र बन्द किये, त्रैलोक्य पावनी तरणि तारिणी जगदुद्धारिणी अघहारिणी विष्णुपादाब्ज संभूता भगवती सुरसरि का ध्यान कर रहे थे, सहसा उन्होंने अपने हृदय कमल पर खड़ी हुई माता की अद्‌भुतमूर्ति निहारी हृदय में जगज्जननी के दर्शन पाकर राजर्षि भगीरथ के रोम खिल गये। उन्होंने अपने परिश्रम को सफल समझा वे मन ही मन भगवती की स्तुति करने लगे। सहसा वह मनहारिणी चित्त कार्षिणी मनोहर मूर्ति हृदय प्रदेश से अन्तर्हित हो गई।

उस अलौकिक रूप राशि पूर्णा देवी के अन्तर्हित होते ही, महाराज का चित्त अत्यन्त व्याकुल हुआ, उनकी अभी दर्शनों से तृप्ति नहीं हुई थी। उसी हड़-बड़ाहट में उनके नेत्र खुल गये। अब वे सम्मुख क्या देखते हैं, त्रिभुवन तारिणी भगवती गंगा

प्रत्यक्ष रूप में उनके सम्मुख खड़ी हैं। महाराज ने भूमि में लोट कर भगवती के अरुण कमल से भी मृदुल उनके पुनीत पाद पद्मों मे साष्टाँग प्रणाम किया। जगज्जननी माता ने अपना अभय वरद हस्त उनके मस्तक पर रखते हुए कहा वत्स ! मैं तुम्हारी तपस्या से अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे इच्छित वर माँगो।" हाथ जोड़ कर महाराज भगीरथ बोले—"माँ, यदि आप मुझ पर प्रसन्न है और यथार्थ में वर देना चाहती हैं, तो मेरी प्रार्थना यही है, कि आप मेरे पितरों का उद्धार करें।"

माँ गंगा बोली—"तब तो भैया मुझे स्वर्ग से पृथिवी पर उतरना होगा।"

भगीरथ बोले—"अब इस बात को तो मैं माताजी, क्या जानूँ। कपिल मुनि की दृष्टि पड़ने से मेरे पितामह के भी पितृव्य यमयातनायें भोग रहे हैं। उनकी भस्म का आपके जल से संसर्ग हो जाय, यही मेरी इच्छा है।"

माँ गंगा बोली— 'हाँ भैया। मैं सब समझ रही हूँ, किन्तु मेरा अभिप्राय यह है, कि बिना मेरे अवतरण के यह काम हो नही सकता। मैं ऊपर से उतरूंगी तो मेरा वेग बहुत भारी होगा। पृथिवी तो मेरे वेग को धारण कर नहीं सकती। मैं उतरी और पृथिवी को भेद कर पाताल में चली गई तो तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। इसलिये मेरे वेग को कोई धारण कर सके, ऐसे किसी व्यक्ति की खोज करो।"

भगीरथ ने कहा—"माताजी। आप इसकी चिन्ता न करें। इस चराचर विश्व को उत्पन्न करने वाले और वस्त्र में जिस प्रकार तन्तु ओतप्रोत रहते हैं उसी प्रकार अपने उत्पन्न किये

जगत में सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मरूप भवानी पति भगवान् भूतनाथ तुम्हारे वेग को धारण करेंगे।"

गंगाजी को यह सुन कर कुछ गर्वसा हुआ। वे सोचने लगीं रुद्र भला मेरे वेग को कैसे धारण कर सकते हैं। अस्तु उनसे तो मैं निबट लूँगी, वे तो मेरी बहिन के पति ही हैं। इस राजा पर अपने भाव को प्रकट क्यों करूँ।" यह सोच कर बोली—"अच्छी बात है, यदि भगवान् रुद्र मेरे वेग धारण कर भी सकें, तो भी मुझे एक आपत्ति और है।"

महाराज भगीरथ ने कहा—"वह और कौन सी आपत्ति है माताजी ?"

माँ गगा बोली—"बह यहकि तुम मुझे पापियों के उद्धार के ही लिये ले चल रहे हो। तुम्हारे पितरों को तो मैं तार ही दूँगी। जब वे सब इतने क्रूर कर्मा घोर पापी तर जायेंगे, तो संसार के सभी पापी आ आ कर मुझमें स्नान करेंगे, अपने पापों को मुझमें छोड़ जायेंगे। वे लोग तो अपने पापों को मुझ में छोड़ कर निष्पाप हो जायेंगे, मैं उन इतने पापों को कहाँ जाकर धोऊँगी, इसका भी तुमने कोई उपाय सोचा है ?" मैं तो पापों के भार से दब जाऊँगी, स्वच्छ से काली हो जाऊँगी।

शीघ्रता के साथ महाराज भगीरथ बोले—"माताजी। इसके लिये आप चिन्तित क्यों होती हैं, इसका उपाय तो बड़ा सरल है ?"

गंगाजी ने उत्सुकता से कहा—"क्या उपाय है, भैया। इसका ?"

भगीरथ बोले—"देखिये, माता जी ! आपमें पापी स्नान करके और अपने पापों को धोवेंगे, यह बात सत्य है, किन्तु केवल पापी ही तो आप में स्नान न करेंगे। कुछ साधु महात्मा शान्तचित्त ब्रह्मनिष्ठ लोकेष्णा वित्तेषणा तथा पुत्रेषणाको त्यागने वाले महात्मा भी तो स्नान करेंगे।"

गंगाजी ने कहा—"तो इससे क्या हुआ ! वे तो निष्पाप हैं, उनका पाप मुझ में न आवेगा किन्तु ऐसे सन्त संसार में कितने हैं ? अधिकांश तो पापी ही मुझ में स्नान करेंगे।

महाराज भगीरथ ने कहा—"नहीं माता जी। यह बात नहीं है। निष्पाप साधु-महात्मा पापों को ही न छोड़ेंगे इतना ही नहीं, उनके ध्यान करते ही आप में जितने भी पाप होंगे, वे सब उसी प्रकार भस्म हो जायेंगे, जैसे एक अग्नि की चिनगारी से कितना भी बड़ा रुई का ढेर क्यों न हो, वह भस्म हो जाता है, अथवा एक ही सूर्य के उदय होने से समस्त अन्धकार मिट जाता है अथवा एक ही सिंह के आने से समस्त जन्तु भाग जाते हैं, अथवा एक ही चन्द्र के उदय होने से समस्त तारागण फीके पड़ जाते हैं। एक सन्त ने भी आपमें स्नान कर लिया, तो आप के सब पाप कट जायँगे। इसलिये परोपकारी कृपालु सन्त तीर्थों में घूम-घूम कर उनमें तीर्थत्व स्थापित करते हैं उसी प्रकार आपके उभय तटों पर रह कर तथा घूम-घूम कर सन्त आपको पावन बना देंगे आपके समस्त पापों को काट देंगे।"

गंगा जी ने पूछा—"यह कैसे होगा ?'

महाराज बोले—"देखिये, माताजी ! उन लोगों के हृदय में साक्षात् अघहारी भगवान् विष्णु वास करते हैं। जहाँ उन्होंने आप में बुड़की लगाई, कि अघहारी मुरारी बनवारी समस्त पापों को क्षण भर में नाश कर देंगे। जैसे कपूर के ढेर में तनिक

सती प्रज्वलित अग्नि छुला दो, वह सब को तुरन्त जला ही न देगी, उसकी राख भी न रहेगी।"

गंगा जी ने कहा—"अच्छी बात है तुम मेरे वेग को धारण करने के निमित्त शङ्कर जी को प्रसन्न कर लो। वे स्वीकार कर लेंगे तो मैं आऊँगी।" ऐसा कह कर गङ्गा जी तुरन्त वहीं अन्तर्धान हो गई।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! गंगा जी के अन्तर्धान हो जाने पर महाराज ने भूमि में मस्तक टेक कर उस दिशा को नमस्कार किया, जिधर जगज्जननी अन्तर्हित हुई थीं। तदनन्तर वे श्री शङ्कर जी को प्रसन्न करनेके निमित्त घोर तप करने लगे।"

छप्पय

करत करत तप भूप दिलीपहु स्वर्ग सिधारे।
तिनके सुत नृप भये भगीरथ सबके प्यारे॥
पिता पितामह मरे नहीं श्रीगंगा आई।
पितर मरे यम सदन दुःख तें तें बतलाई॥
भूप भगीरथ राज जतीं गङ्गाजी लेवे गये।
अबके जननी तुष्ट ह्वै, नरपति कूँ दरशन दये॥

गंगावतरण

यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि।
सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मिभिः ॥
भस्मीभूताङ्गसङ्गेन स्वर्याताः सगरात्मजाः।
किं पुनः श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ६ अ० १२,१३ श्लोक)

छप्पय

गंगा बोली वेग बड़ो रोकै को मेरो।
औरहु चिन्ता एक करूँ हौं कारज तेरो ॥
हौं सब के अघ हरूँ हरै मेरे को अघनर।
कहै नृपति तब वेग सहेंगे शिव हर शङ्कर ॥
अघहारी हियमें बसहिं, साधु पाप काटैं सबहिं।
ह्वै प्रसन्न अवतरण हित, गङ्गाजी गमनी तबहिं ॥

एक कहावत है, "गङ्गाजी आने वाली थीं भगीरथ के सिर

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिन गंगाजी के जल का ब्रह्म दंड से आहत हुए सगर पुत्रों के शरीर की भस्म से ही स्पर्श होने मात्र से वे सबके सब स्वर्ग चले गये। जब वे सगर के पुत्र भस्मीभूत शरीर के स्वर्ग होने से ही सीधे स्वर्ग सिधार गये, तो फिर जो व्रत को धारण करने वाले श्रद्धा पूर्वक नित्य ही श्री गंगाजी का सेवन करते हैं तो फिर उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।"

पड़ी।" इसका सारांश यह है, कि सब कार्य समय आने पर ही होते हैं। सबका काल निश्चित है। काल भगवान् का एक रूप है। प्रयत्न कोई भी कभी भी किसी का भी व्यर्थ नहीं जाता, किन्तु उसका परिणाम अवसर पर ही प्रगट होता है। आप चाहें अमावस्या के दिन पूर्ण चन्द्र उदित हो जाय तो नहीं हो सकता। किन्तु अमावस्या के अन्धकार में पूर्णिमा का प्रकाश निहित है, अमावस्या है, तो एक दिन पूर्णिमा भी आवेगी। आप चाहें कि नित्य पानी देते रहें और आम में शीघ्र फल आ जायँ, तो यह असम्भव है। कितना भी पानी दें फल समय से ही आवेंगे। पानी देना व्यर्थ नही, पानी का फल होगा, सुन्दर फल लगेंगे, अच्छे लगेंगे। किन्तु लगेंगे, समय से ही। एक बड़ा भारी पत्थर है, कुछ आदमी उसे तोड़ना चाहते हैं बार-बार घन मारते हैं, वह टूटता नहीं। दिन भर उन्होंने परिश्रम किया, पत्थर नही टूटा। दूसरे दिन दूसरे तोड़ने वाले आये ज्योंहीं उन्होंने एक घन मारा फट से पाषाण फट गया, टूट गया। तो क्या कल जिन्होंने दिन भर श्रम किया था, वह व्यर्थ हो गया? नहीं, सो बात नहीं है। उनका श्रम व्यर्थ नही गया। उनकी चोटों ने उसे जर्जरित बना दिया वह निर्बल निःसत्व हो गया, किन्तु उस दिन उसके टूटने का काल नही था, उन्हें तोड़ने का श्रेय प्राप्त होना नहीं था। वह तो दूसरे के ही भाग्य में था। इसीलिए दूसरे दिन वह टूट गया। एक आदमी सतत प्रयत्न करते हैं, उनको कोई जानता नही उनका नाम नहीं होता। दूसरा उसमें हाथ लगाता है, सर्वत्र उसका नाम होता है। कोयलों की खान के नीचे एक नीलम नाम का बहुमूल्य पाषाण निकलता है, जिस कोयलो की खान वालों को वह मिल जाता है, वे मालामाल हो जाते हैं। विशेषज्ञों ने भूगर्भ विद्या के अनुसार

बताया इस भूमि में नीलम है। एक व्यापारी ने उसको ले लिया। बहुत वर्षों तक कोयले निकलवाता रहा, नीलम नहीं निकला। तब उसने निराश होकर एक दूसरे आदमी के हाथ खान को विक्रय कर दिया। खान पर अधिकार प्राप्त करके दूसरे दिन ज्योंही उसने कार्य आरम्भ किया, कि नीलम के बहुत बड़े बड़े पाषाण मिल गये। वह अरबपति हो गया। पहिले पुरुष ने जो प्रयत्न किया वह व्यर्थ हो गया नहीं, किन्तु फल को वह न भोग सका। यश उसे प्राप्त न हो सका। इसी प्रकार अंशुमान् दिलीपने जो तपस्याकी उससे गङ्गाजीका हृदयतो द्रवित हुआ ही, किन्तु यश भगीरथ के हाथ लगा। इसीलिये भगवती सुरसरि भागीरथी कहलाई।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्! जब गङ्गाजी वरदान देकर अन्तर्हित हो गईं, तब महाराज भगीरथको भगवान् भूतनाथ को प्रसन्न करने की चिन्ता हुई। अब वे सब कुछ छोड़ कर सतीपति सदाशिव शङ्करके ध्यान में निमग्न हो गये। शङ्कर तो आशुतोष ही ठहरे। अल्पकाल में ही वे प्रसन्न हो गये। आक धतूरा चढ़ा कर जहाँ चुल्लू भर जल उनकी पिंडी पर डाल दिया और गाल बजा दिये, कि भोले बाबा सन्तुष्ट हो गये। राजा की सच्ची लगन और दृढ़ प्रतिज्ञा को देखकर पशुपति भगवान् त्रिपुरारी महाराज के सम्मुख प्रकट हुए और बोले—"मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ?"

हाथ जोड़े हुए विनीत भावसे भूमिमें लोटकर प्रणाम करने के अनन्तर गद्गद् वाणी में महाराज भगीरथ बोले—"हे विश्वनाथ! हे आशुतोष! मेरे पितर ब्रह्मदण्ड से आहत हुए यम यातनायें भोग रहे हैं, उनके उद्धार के लिये भगवती सुरसरि ने

अवनि पर अवतरित होने का वचन दिया है, कृपा करके आप उनके प्रवल वेग को धारण करें, यही मेरी आपके पुनीत पादपद्मों में विनीत प्रार्थना है।"

शिवजी ने कहा—"अच्छी बात है, गङ्गाजी से कह दो,वे चाहे जितने वेग से आवे मैं उन्हें अपनी जटाओं में धारण करूँगा।" मैं कैलाश के शिखर पर आसन लगाकर बैठता हूँ, गङ्गा आवें। यह सुनकर महाराज के हर्षका ठिकाना नही रहा। उन्होंने भगवती सुरसरि की प्रार्थना की।

माता तो चञ्चला चपला बालिका ही ठहरी उन्हें एक विनोद सूझा। वे सोचने लगी—"ये शङ्कर भोलेनाथ आक धतूरा खाकर सदा कैलाश की बरफ में ही लेट लगाते रहते हैं। जबसे इन्होंने विषपान किया है, तबसे इन्हें शीत स्थान, जल स्नान अत्यधिक प्रिय हो गया है। क्यों नही मैं अपने प्रबल वेग के सहित इन्हें और इनके प्रिय कैलाश पर्वत को साथ लिए हुए पाताल में घुस जाऊँ।"गङ्गाजीका शिवजी से ऐसा ही सम्बन्ध है जिसमें हँसी विनोद का पूर्ण अवसर है, वहिन के पति ही ठहरे। यह सोचकर भगवती अपने अत्यन्त प्रभावशाली तेज से हर-हर करती हुई स्वर्ग से अवतरित हुईं। उस समय देवता, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर उस दृश्य को देखने के लिए अपने विमानों में बैठकर कैलाश के ऊपर उड़ रहे थे। कल कल निनादिनी पतित पावनी, भवभय हारिणी भगवती अपने अञ्चल को वायु मे उड़ाती, अनन्त जल राशि के रूप में शिवजी की जटाओं के ऊपर आकर गिरी। शिवजी को ऐसा लगा मानों कोई नन्हें-नन्हें जल कणों से उनका अभिसिंचन करने लगा है। आज उन्होंने भङ्ग कुछ अधिक चढ़ाली थी। गणों ने भङ्ग में धतूरे और तांवे की मात्रा अधिक कर दी थी। जब शीतल

गंगाजी के जल कण पड़े, तो उन्हें झपकियाँ आने लगीं। गंगा

जी बहुत गरजीं तरजीं, बहुत बिलबिलाईं छटपटाईं, बहुत

अपना वेग दिखाया, सम्पूर्ण बल पराक्रम लगाया, किन्तु उन्होने जटाजूट धारी की जटाओं का पार नहीं पाया। वे उन्हीं में उलझ गईं, भटक गईं, मार्ग भूल गईं। अब तो वे बन्धन में पड़ गईं। शिवजी नेत्र बन्द किये ध्यान मग्न थे, गङ्गाजल का एक बिन्दु भी गिरि के ऊपर न गिरा। पत्नी की भगिनीके साथ भूतनाथ ने विचित्र विनोद कर दिया।

महाराज भगीरथ घबराये। इन दोनोंका तो विनोद हुआ मेरा मरण हो गया। जैसे तैसे तो गङ्गाजी को प्रसन्न किया, आकर भी शिवजटाओं में विलीन हो गईं। फिर उन्होने शिवजी की स्तुति आरम्भ की। शिवजी ने नेत्र खोले और बोले—"राजन् मैंने गङ्गाजी को धारण कर तो लिया अब तुम मुझसे क्या चाहते हो, अब तुम मेरी विनय क्यो कर रहे हो ?"

विवशताके साथ राजा बोले—"अजी, महाराज धारण करने का अर्थ यह तो है ही नहीं कि आप उन्हें अपनी जटाओं में ही छिपाये रखें। मैंने तो अपने पितरों के उद्धार के लिए प्रार्थना की थी। जब आपको जटाओं में ही रखनी थी, तो मेरे जाने जैसी-ही ब्रह्मकमण्डलु में वैसी ही आपकी जटाओं में कृपा करके इन्हें अवनि पर आने दीजिए। समुद्र तक जाने दीजिये। मेरे पितरों की भस्म को बहाने दीजिये। तब मेरा श्रम सार्थक होगा।"

शिवजी बोले—" अजी राजन्! मुझे तो कुछ निद्रा सी आगई थी। अच्छी बात है लो मैं तुमको गङ्गाजी देता हूँ। देखो, विष की उष्णता से मुझे गरमी कुछ अधिक कष्ट कर प्रतीत होती है, अतः सम्पूर्ण गङ्गा को तो मैं छोड़ूँगा नहीं। तुम्हारे काम भर के लिये एक धारा दिये देता हूँ।" यह कहकर शिवजी ने अपनी एक जटा से उनका प्रवाह पर्वत पर गिराया।

गिरते ही गङ्गा बोलीं—राजन् ! किधर चलना होगा, तुम मुझे मार्ग दिखाओ। अपने पितरों के समीप पहुँचने का पथ बताओ।"

भगीरथ बोले—"देवि ! मैं अपने दिव्य रथ पर चढ़कर आगे-आगे चलता हूं आप मेरे पीछे पीछे आवें।"

गङ्गाजी हँस पड़ीं बच्ची ही तो ठहरीं। बोलीं—"अच्छी बात है, आज से तुम मेरे पिता हुए। जैसे पिता के पीछे पीछे बच्ची दौड़ती हैं, वैसे ही मैं तुम्हारे रथ के पीछे दौड़ूँगी। आज से मैं संसार में भागीरथी के नाम से विख्यात होऊँगी।"

यह सुनकर महाराज भगीरथ अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे रथ पर चढ़कर आगे-आगे चल दिये। उनके पीछे, पर्वतों को तोड़ती फोड़ती, लताओं को मरोड़ती वृक्षों को उखाड़ती, पाषाणों से टकराती, गिरि खण्डों को सहाती हुई भागीरथी बहने लगीं, वेग से चलने लगीं, उनके पीछे कच्छ, मत्स्य, नक्र, सर्प, उरग, भेपज आदि आदि जलजन्तु भी माता की जय-जयकार करते हुए चलने लगे। नीचे पर्वतों पर जलजन्तु चल रहे थे, ऊपर आकाश में देव उपदेव विमानों पर साथ-साथ उड़ रहे थे। गन्धर्व गा रहे थे, अप्सरायें नूपुरों की ध्वनि की ताल में ताल मिलाकर नृत्य करती जाती थीं। देवता पुष्प बरसाते जाते थे, वे पुष्प भागीरथी के पावन पय में हिल हिलकर मिल मिलकर ठुमुक-ठुमुक कर नाच रहे थे, हाव भाव दिखा रहे थे, पाषाण खण्डों को कन्ठसे लगा रहे थे और साथ ही माँ के पास दौड़ रहे थे।

उस समय अनेक शब्द एक ताल लयमें मिलकर एक नूतन सङ्गीत की सृष्टि कर रहे थे। आकाशस्थित देवों के जय जय-

कार सुर वधूटियों की कङ्कण किंकिणि और नूपुर चूड़ियों के झंकार, गायन की सुरीली सरल ताल, वाद्योंकी सङ्गीतमय ध्वनि गङ्गाजी का कलरव शब्द, पाषाणों की चपेटों की चट्ट पट्ट आकाश में उड़ते हुए पक्षियों का कलरव तथा भगीरथ के रथका गंभीर जल भरे मेघों के समान गंभीर घरघराहट ये शब्द एक ही लय में साथ ही हो रहे थे। जैसे मृदङ्ग, वीणा, पणव, मञ्जीरा आदि विविध वाद्य विविध भाँति के शब्द करने पर भी एक ताल में एक स्वर में बजते हैं। इस विश्वमय अलौकिक सङ्गीत की सुरीली सुखमयी ध्वनि से सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मांड भर गया। चराचर प्राणी गङ्गा के अवतरण से प्रमुदित हुए।

महाराज भगीरथ का रथ ऐसा दिव्य अलौकिक था कि वह जल में थल में सममें विषम में नभ में तथा गिरिशिखरों पर समान रूप से चल सकता था, उसके पीछे हर-हर मन्त्र का अविच्छिन्न अखण्ड कीर्तन करती हुई, भगवती भागीरथी चल रही थीं। जैसा कि चञ्चला बालिकाओं का सहज स्वर होता है उसी स्वभावानुसार वे टेढ़ी मेढ़ी चल रही थीं। कभी किसी गिरि शिखर से टकरा जातीं, तो तुरन्त वहाँ से लौटकर टेढी चलने लगतीं, कभी किसी ऊँची चट्टान से एक साथ ही कूद पड़ती, कभी मुड़ जाती, कभी बढ़ जाती, कहीं सिकुड़ जाती, कहीं फैल जातीं; कहीं दो पहाड़ों के बीच में पिच जातीं और फिर शनैः शनैः करवट के बल चलकर उसे पार करती। कहीं शीघ्रता से दौड़ने लगती, कहीं थक कर गम्भीर हो जातीं। कहीं उछल जातीं, कहीं पाषाण खण्डों से क्रीड़ा ही करने लगतीं। कहीं किसी पहाड़ के नीचे ही नीचे बहने लगतीं, कहीं ऊपर बरफ है नीचे से सर्र से निकल जाती, कहीं गोल गोल रंग बिरंगे पाषाण खण्डों के साथ खिलवाड़ ही करने लगतीं। उन्हें एक दूसरे से

टकराकर बजातीं कहीं किसी को तोड़कर ऊपर उछालतीं, कहीं नीचे से किसी ऊपर के हिम उपलों पर पानी उलीचती, कहीं किसी सरिता से गले मिलतीं। कहीं किसी को साथ-साथ लेकर दौड़तीं कहीं किसी से सन्धि करतीं,कहीं विग्रहसा भाव भी प्रकट करती। कहीं किसी प्रपात का आतिथ्य स्वीकार करतीं, कहीं किसी निर्झरिणी का सुखद सङ्गीत सुनातीं। कहीं किसी लताको हिलाती, कहीं किसी वृक्ष की डाली को डुबातीं, कहीं किसी वनस्पति को जीवन दान देतीं।

इस प्रकार नाना क्रीड़ा करती हुईं गङ्गाजी रथके पीछे पीछे स्वेच्छा से अठखेलियाँ करती हुईं स्वच्छन्द मालिका के समान फुदकती हुईं चल रही थीं। अनेकानेक वन पर्वत और गिरि शिखरों को अपने संसर्ग से पावन बनाती हुईं माता वहाँ आईं जहाँ पर्वतों का अन्त है। जहाँ तक की भूमि में महाराज पृथु ने इधर उधर के सब पर्वतों को उठा-उठाकर एकत्रित किया है। उन पार्वतीय प्रदेशों को पार करके पृथिवी के उस प्रान्त की ओर बढ़ी जहाँ की भूमि समतल है। जहाँ ऊबड़ खाबड़ धरा नहीं है। जहाँ से पर्वतों को फोड़कर भूमि पर जाने का द्वार किया उसे गङ्गाद्वार या हरिद्वार कहते हैं। उस कुशावर्त प्रान्त से चल कर परम पावन महर्षियों द्वारा सेवित ब्रह्मावर्त प्रदेश में माता भगवती ने पदार्पण किया। वहाँ जाकर वे भागीरथी से जाह्नवी हो गईं। वे राजर्षि जन्हु की दुहिता कहाईं।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! राजर्षि जन्हु कौन थे ? गङ्गाजी उनकी पुत्री क्यों कहाईं ? कृपा करके इस कथा को सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो ! जिस प्रकार भागवती

भागीरथी का नाम जाह्नवी पड़ा, उस कथा को मैं आपको सुनाता हूँ। आप इस परम पावन पुण्य प्रदायिनी कथा को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

गरजत तरजत चली वेगतें गङ्गा माता।
गिरीं जहाँ गिरिजेश विराजें भवभय त्राता॥
सोचें शिवकूं सङ्ग लिये पाताल पधारूँ।
जीजाजी की जटनि माहिँ जलधारा डारूँ॥
भोले बाबा भङ्ग की, बैठे सहज तरङ्ग महँ।
जटनि माहिँ गङ्गा गिरीं, परी भङ्ग तिन रङ्ग महँ॥

जाह्नवी भागीरथी

(६४३)

भीमस्तु विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्ततः।
तस्य जह्नुः सुतो गंगां गण्डूषीकृत्य योऽपिवत्॥

(श्री भा०, ६ स्कं० १५ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

इतउत सुरसरि फिरहिं जटनिमहँ मग नहिं पावैं।
भूप भगीरथ निरख खेल अतिशय घबरावैं॥
शिव सन विनती करी जटनि तैं छोड़ी गङ्गा।
ह्वै के चंचल चली अवनिपै तरल तरंगा॥
हिम,गिरि नग,तोरति ब्रहहिं,सुरमुनि मिलि जयजय करहिं।
रथ पीछे पीछे फिरहिं, चलत दरश तें अघ हरहिं॥

चंचलता में कभी कभी क्रोध उत्पन्न हो आता है। हँसी में खँसी हो जाती है। किन्तु बालकों मे चंचलता स्वाभाविक है। इसीलिये वे परस्पर में खेलते-खेलते लड़ पड़ते हैं, रोने लगते

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् चन्द्रवंश मे महाराज भीम हुए उनके पुत्र विजय हुए। विजय के काञ्चन और काञ्चन के होत्र इनके होत्र पुत्र जह्नु थे। गंगाजी को चुल्लू में भरकर पी गये।"

हैं, युद्ध हो जाता है। क्षण भर में सब भूल जाते हैं, एक हो जाते हैं। कुट्टी हुई मित्रता पुनः मिल्ली के रूप में परिणित हो जाती है। इसीलिये क्रीड़ा में सभी संभव है। जैसे प्रेम क्रीड़ा का अंग है वैसे ही क्रोध कलह, मान भी उसका अङ्ग है। मान के विना प्रेम में स्वाद नहीं। कलह के विना क्रीड़ा में नूतनता नहीं। भगवान् नाना रूप रखकर इस जगत् नाट्यस्थली में क्रीड़ा कर रहे है। गङ्गा भी उन्हीं का द्रव रूप है, विष्णु,शिव,विरंचि, राजर्पि, ब्रह्मर्पि, देवता, पितर सभी उनके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। क्रीड़ा में शंका के लिये स्थान नही ऐसा क्यों हुआ ? क्रीड़ामे क्यों के लिये स्थान ही नहीं।

सूतजी कहते हैं–"मुनियो! आपने मुझसे गंगाजी के जाह्नवी नाम पड़ने का कारण पूछा था, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। भगवती भागीरथी चलते समय बड़ी इठला रही थीं, वे बड़ी उत्सुकता प्रकट कर रही थीं। अब वे निरी वालिका ही नहीं रही थीं। हिमालय की गोद से उतर कर वे सयानी हो गई थीं। छोटी से बड़ी हो गई थीं। चंचलता तो कुछ कम हो गई थी। वे ज्यों ज्यों बढती जाती थीं, त्यों त्यों गम्भीर होती जाती थी। अब उछलकर चलना उन्होंने छोड़ दिया। अव वे किलकारी भी नहीं मारती थीं, अव तो चुपचाप शांति के साथ गंभीर भाव से चल रही थी। अब वे पहाड़ों में जैसी रेख की भाँति पतली थीं, वैसी नहीं रहीं। अब उनका पाट बढ़ गया था। अब वे पाषाण खण्डों से खिलवाड़ भी नहीं करती थी। अब वे अंचल से अपने सिर को ढककर चलती थीं। वे ज्यों-ज्यों पतिगृह के समीप पहुँचतीं त्यों-त्यों शान्त और गम्भीर होती जाती थीं, यद्यपि बाल्यकाल की चंचलता उनमें नहीं रही, फिर भी यौवन का अल्हड़पन और दूसरों को बनाने खिजाने और हँसने

प्रवृत्ति तो उनकी थी ही। लड़के-लड़कियों को बुड्ढों को खिजाने में उनके कार्यों में विघ्न डालने में बड़ा आनन्द आता है। न जाने क्यों बूढ़ों की गालियां अच्छी लगती हैं।

ब्रह्मावर्त में चलते चलते गङ्गा ने देखा चन्द्रवंशी महाराज होत्र के पुत्र राजर्षि जन्हु गंगा तट पर एक बड़ा भारी यज्ञ कर रहे थे। गंगाजी को एक विनोद सूझा। उन्होंने अपना वेग तीक्ष्ण कर दिया, वे फैल गईं, जिससे राजर्षि जन्हु के यज्ञ की समस्त सामग्री जल में वह गई उनके यज्ञ में बड़ा भारी विघ्न हुआ। इससे उन्हें गंगा के ऊपर बड़ा क्रोध आया। वे सोचने लगे—"अब यह निरी लड़की तो रही नहीं। सयानी हो गई है, फिर भी मुझसे खिलवाड़ करती है, मुझे चिढ़ाती है। भला, बताइये मैंने इसका क्या बिगाड़ा था, अकारण इसने मेरे यज्ञ को नष्ट कर दिया। अच्छी बात है इसे भी मैं अपने तप का बल दिखाऊँगा।" यह सोचकर मुनि ने गङ्गा के जल को स्तब्ध कर दिया। फिर उस समस्त जल को एक चुल्लू में ही पान कर गये। अब तो गङ्गाजी में एक बूँद भी जल नहीं रहा।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! हमें तो यह गप्प सी लगती है। आप ही सोचिये इतने अधिक जल को एक चुल्लू में एक मनुष्य कैसे पी जायगा।"

इस पर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! इसमें कौन सी बात है। कार्य कारण में विलीन हो ही जाता है। कितनी भी वरफ क्यों न हो उसे पानीमें डालिये पानी ही हो जायगी। कितना बड़ा वट वृक्ष है अग्नि मे जला दीजिये एक मुट्ठी राख हो जायगी। हजार मन कपूर जला दीजिये राख भी न होगी। वह अदृश्य हो जायगा। जल की उत्पत्ति अग्नि से है, मुनि ने अपने योग

बल से अग्नि तत्व को प्रदीप्त कर दिया; सब जल कारण में विलीन हो गया। आदि प्रवाह को रोक दिया। यह तो कोई बहुत दिन पहिले की सत्ययुग की बात है। अभी कलियुग में कुछ ही वर्ष पूर्व एक विचित्र घटना घटित हो गई। एक योगीने योग का विचित्र चमत्कार दिखाया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हमें भी तो सुनाइये क्या चमत्कार दिखाया।"

सूतजी बोले—"भगवन्! ग्वालियर नामक प्रयाग से दक्षिण में एक छोटा सा राज्य है। वहाँ महाराष्ट्र देश के राजा राज्य करते हैं। एक दिन एक योगी आये, वे अपनी मस्ती में नंगे ही राजमहल के भीतर जा रहे थे। प्रहरी ने उन्हे रोक दिया। वे रुक गये और एक वाटिका के चबूतरे पर खड़े होकर लघुशंका करने लगे। फिर क्या था उनका जो लघुशंका का प्रवाह आरम्भ हुआ, वह रुका ही नहीं। सम्पूर्ण बगीची भर गया। किलेके चारों ओर की खाई भर गई। राजमहल और नगर भी डूबने लगा रात्रि भर में प्रलय सी आ गई। लोगों ने दौड़ कर महाराज से निवेदन किया। महाराज दौड़े-दौड़े आये महात्मा के पैरों पड़े तब कहीं जाकर उनका प्रवाह रुका। उसी दिन से महाराज उन्हे बहुत मानने लगे। नित्य उनके लिए सुवर्णके थाल में भोजन जाता और वे खा कर थाल को फेंक देते। सारांश कहने का इतना ही है कि जिन्होंने इस प्रकृति के तत्व को समझ लिया है, उनके लिए जल का सोख लेना अग्नि को शीतल कर देना आदि भाँति-भाँति के व्यापार साधारण कार्य हैं। जो प्राकृतिक पदार्थों से ऊपर उठ गये है, उनके लिये गगाजी के प्रवाहको रोक देना कौनसी बड़ी बात है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी ! फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"फिर महाराज हुआ क्या गङ्गाजी के सोख लेने से भागीरथीजी के तो छक्के छूट गये। वे सोचने लगे—"गंगाजी के लाने में तो मेरे ऊपर एक से एक विघ्न आते है अब क्या करूँ।"

गंगाजी का प्रवाह रुकने से वे रथ से उतर गये और बड़ी नम्रता से राजर्षि जह्नु की प्रार्थना करने लगे। भागीरथ की विनय से महाराज जह्नु प्रसन्न हुए और बोले—"राजन् ! आप क्या चाहते हैं, मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ।"

महाराज भागीरथ बोले—"भगवान् ! मुझे अपने पितरों के उद्धार के निमित्त गंगाजी को ले जाना है, कृपा करके आप गङ्गाजी को छोड़ दें।"

यह सुन कर राजर्षि जह्नु बोले—"राजन् ! गङ्गा तो मेरे पेट में पहुँच गई। अस्तु आप कह रहे हैं, तो मैं इन्हें निकाले देता हूँ, यह कह कर राजर्षि ने अपने कान के छिद्र से गङ्गाजी को निकाल दिया। महाराज जह्नु के शरीरसे निकल कर गङ्गा ने कहा—"पिताजी ! आपने मुझे अपने तन से उत्पन्न किया है, अतः आजसे जगत में मैं आपकी तनया कहलाऊँगी। लोग मुझे जाह्नवी या जह्नु सुता कहा करेंगे। आज से आप मेरे पिता हुए।

राजर्षि बोले—"अच्छी बात है, यह मेरा सौभाग्य है कि समस्त विश्वब्रह्मांडको तारने वाली तुम मेरी पुत्री कहलाओगी। अपने वीर्य से न उत्पन्न होने पर भी जो धर्म की सन्तान परोप-

पकार में निरत रहती है, वही पितरो को तारने में समर्थ हो सकती है। वही सच्ची संतान है। तुम्हारे जल के स्पर्श से पापी भी तर जायँगे। ऐसी तरनतारिनी तुम मेरी तनया कहलाओगी, यह मेरे लिये सबसे बढ़कर गौरव की बात है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! इस प्रकार गङ्गा महाराज जह्नु को अपना पिता मानकर उनकी परिक्रमा करके आगे बढ़ीं। महाराज जह्नु ने भी उनका सिर सूँघा और आशीर्वाद दिया—"तुम संसार में विश्ववन्दिता कहलाओगी।" इस प्रकार पिता जह्नु से आशीर्वाद पाकर भगवती जाह्नवी आगे बढ़ी।

छप्पय

उतरि हिमालय अंक अवनि पै नीचे आई।
सामग्री मुनि जह्नु यज्ञ की सबहिँ बहाई॥
लखि अविनय मुनि कर्यो कोप गंगा पी लीन्हीं।
भूप भागीरथ विनय बहुत विधि मुनि की कीन्हीं॥
छोड़ी गंगा कान तें, तनया तिनकी ह्वै गईं।
तबई तें भागीरथी, ख्यात जाह्नवी जग भईं॥

गंगाजी से भगीरथके पितरोंका उद्धार

(६३६)

रथेन वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती।
देशान् पुनन्ती निर्दग्धानाभिंचत्सगरात्मजान् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ८ अ० ११ श्लो)

छप्पय

अवनि उतरि अब बढ़ी रही नहिँ गंगा छोटी ।
चंचलता छुटि गई भई अब कृशते मोटी ॥
संग भगीरथ लिये कपिल निज आश्रम आये ।
गंगा जल कूँ परसि पितर सब स्वर्ग सिधाये ॥
भस्म भूत माँ पय परसि, सगर सुतनि छूटी व्यथा ।
तट निवसैं नित पय पिये तिन सुकृतिनि की का कथा ॥

हम सब बातों को प्रत्यक्ष नही कर सकते । विश्वास पर श्रद्धापर ही संसारका कार्य अवलम्बित है। रोगी पग-पग पर यहाँ तक कि पहिले औषधि के गुणों को मुझे प्रत्यक्ष कर

---

*श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! महाराज भागीरथ वायुके समान वेग वाले अपने रथपर चढ़े हुए थे। गंगाजी उनका अनुगमनकर रही थी, इस प्रकार अनेक देशो को पावन बनायी हुई उन्होंने उस प्रदेश का सिंचन किया जहाँ दग्ध हुए सगर सुतोकी भस्मकी ढेरिया पड़ी हुई थी ।"

के दिखा दो तब मैं सेवन करूँगा। तब तो सम्भव है उसका रोग कभी जाय ही नही। रोग जाने के लिये उसे चिकित्सक पर विश्वास करना पड़ेगा। वह जो औषधि दे उसे श्रद्धापूर्वक खाना होगा जैसा पथ्य सेवन को कहे उसे विश्वास पूर्वक सेवन करना होगा। पुत्र माता से आग्रह करे कि पहिले मुझे इस बात को प्रत्यक्ष करा दो कि यही मेरे पिता हैं, तो माँ कैसे प्रत्यक्ष करा सकती है। मैं ही माँ हूँ इसे भी वह तर्क से स्वय कैसे सिद्ध कर सकती है। पुत्र को माता-पिता और गुरुजनों के वचनों पर विश्वास ही करना होगा। जिसे माँ कहने को कहे वह माँ है जिनके माँ पिता कहलावे वे पिता हैं। गुरु अक्षरारंभ करता है। आरम्भ ही बताया है। यह "आ है, यह "इ" है यह 'उ" है। अब लड़का यह तर्क करे कि यही "आ" क्यों है। यह "उ" क्यों नही? तो गुरु इसे तर्क से कैसे सिद्ध कर सकता है। उस पर एक ही उत्तर है। मैं गुरु परम्परा से यही बात सुनता आया हूँ, कि इसे "आ" कहते हैं। उन आप्त पुरुषों के वचनों पर मुझे विश्वास है तुम्हें भी मेरी बात पर विश्वास करना चाहिये। मैं जिस अक्षर का जो नाम बताऊँगा तुम्हें उसे ही विश्वासपूर्वक मान लेना चाहिये। ऐसे एक नही अनेकों उदाहरण हैं, कि हम बड़े लोगों के विश्वासनीय आप्त पुरुषों के वचनो पर ही विश्वास करके संसार यात्रा मे अग्रसर हो सकते है। यदि पग-पग पर हम तर्क का ही अवलम्ब लेते रहे, तब तो हम एक पग भी नही बढ़ सकते। जो कहते है—"जैसे अन्य जल वैसे ही गङ्गाजल, गङ्गाजल में क्या रखा है। उसके दरस परस और पान से पाप कैसे कट सकते हैं, उसमे भस्म अस्थि डालने से मृतक व्यक्ति का उद्धार कैसे हो सकता है? "तो इस विषय में यही कहेंगे, कि हमारे

सभी शास्त्रकारों ने यही कहा है, कि गङ्गा का जल साधारण जल नहीं गङ्गा अन्य साधारण सरिताओं के समान नहीं हैं। वह स्वर्ग की नसैनी हैं पाप काटने की छैनी हैं उसमें ज्ञान से अज्ञान से श्रद्धा से अश्रद्धा से कैसे भी कोई स्नान करेगा, उसका उद्धार होगा। इसी बात को वेद पुराण अनादि काल से चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं और अब शास्त्रो को सत्य मानने वाले, उन पर विश्वास रखने वाले इन बातों पर विश्वास करते है। इन वचनों की प्रामाणिकता के लिये हमे तर्क का सहारा नहीं लेना पड़ता जो स्वतः सिद्ध है, उसमें तर्क की क्या आवश्यकता ?"

श्री शुकदेव जी कहते—"राजन् ! भगवती जाह्नवी अब आगे के देशों को अपने पुण्य पथ से पवित्र बनाती हुई आगे बढ़ीं। उनका वेग विशाल था वे टीलों से टकराती विषम भूमि को सम बनातीं, अलकनन्द को अपने मे मिलाती, प्राणियों के हृदयो को हुलसाती गोविन्द के गुनगाती, प्रयाग में पहुँचीं उनकी बड़ी बहिन यमुना रानी वहाँ युग युगान्तरों से बह रहीं थीं। उन्होने जब भागीरथी को अपने यहाँ अतिथि रूप में देखा तो वे अर्घ्य लेकर आगे बढ़ो। यमुना का अर्घ्य देखकर गङ्गा पीछे हट गईं। भगीरथ का माथा ठनका कहीं यहाँ तो गड़बड़ नहीं होने वाली है। यमुना ने अपना सम्पूर्ण स्नेह बटोर कर मधु से भी मीठी वाणी मे दुलार के साथ पुचकारते हुए कहा—"गंगा ! मुझ से कौन अपराध बन गया है, बहिन बहुत दिनों मे तो तुम मेरे घर आई हो। फिर तुम मेरे प्यार के प्रतीक इस अर्घ्य को स्वीकार क्यों नहीं करती ? तुम रूठ क्यों गई हो, मुझ से मिलने में सकुचाती क्यों हो। आओ, मेरे हृदय से

चिपट जाओ। दोनों बहिन हृदय से हृदय सटाकर मिल लें। भर पेट प्रेम के अश्रु बहालें।"

गंगा ने विवशता के स्वर में कहा—"बहिन! देखो,मैं तुमसे डरती हूँ, तुम समस्त सरिताओं में सर्व श्रेष्ठ हो, तुम समुद्रगा सहित हो, तुमने पति के साथ संगम किया है, मैंने अभी अपने पति समुद्र के दर्शन तक नहीं किये। जहाँ मैं तुम से छाती से छाती सटाकर मिली, तहाँ मेरा अस्तित्व ही विलीन हो जायगा। मुझे फिर कौन पूछेगा। आगे तो तुम्हारा ही नाम होगा। इसलिये मैं तुम से डरती हूँ। मिलने में हिचकती हूँ,दूर से ही रामराम करके मैं अपना मार्ग पकड़ती हूँ। तुम उधर जाओ मैं इधर से मुड़कर जाती हूँ।"

यह सुनकर यमुना उसी प्रकार हँस पड़ी जैसे बड़ी बहन छोटी बहिन की तोतली वाणी सुनकर हँस पड़ती है। यमुना बोली—"अरे, गंगे! तू इतनी बड़ी होगई, फिर भी तेरा भोलापन नहीं गया। भला यह कैसे हो सकता है, बहिन बहिन से मिले और दूर से ही नमस्कार करके चली जाय जब तक हृदय से हृदय नहीं सटता वह मिलन नहीं विडम्बना है। जब तक दो अंग एकीभूत नहीं होते, तब तक सरसता की धारा कैसे बह सकती है। पगली कहीं की। नाम की क्या बात है। बड़े तो हृदय से चाहा ही करते है छोटों का नाम हो। छोटे जब बड़े हो जाते हैं, तो बड़े लोग अवकाश ग्रहण करके अपने कार्य क्षेत्र से हट जाते हैं। तू सर्व समर्थ है, महान् शक्ति शालिनी है। आ मेरे हृदय से लगजा। तुझे मैं अपने में नहीं मिलाऊँगी, मैं ही तुझ मे मिल जाऊँगी। अब आगे मेरा नाम न होकर तेरा ही नाम रहेगा।"

गङ्गा निरुत्तर हो गई। दौड़कर वह यमुना के हृदयसे चिपक गई। यमुना ने प्यार से गंगा का मुँह चूमा उसके बालों को अपनी उँगलियों से सुलझाते हुए अपनी नीली साड़ी में उसे छुपाते हुए बोली--"देख अब मुझसे अलग न होना। अनन्तकाल तक हमारा सगम ऐसा ही होता रहे। ये विघटन वाले बच हृदय पुरुष देखें, कि सच्चा संगम ऐसा होता है। तू अपनी धूमिल साड़ी में मेरी नीली साड़ी को सटा दे। आगे तेरा ही नाम होगा, किन्तु यह संगम सनातन होगा। आज से प्रयाग का नाम गंगा यमुना का संगम होगा। नीचे से उछल कर सरस्वती बोली—"क्यों बहिनो ! मुझे भूल ही गई क्या ?"

अत्यन्त प्यार दुलार से यमुना बोली—"ओ, अरे बहिन ! भला तुझे भूल कैसे सकते हैं। तू तो हम सब से बड़ी है। हम तीनों मिलकर त्रिवेणी कहावेंगी। इस तीर्थराज प्रयाग का नाम 'संगम' त्रिवेणी सभी होगा। तू छिपी ही रह। देवता परोक्ष प्रिय होते हैं। वाणी छिपी ही रहती है। वाणी का कोई आकार नहीं। उसके नाम से ही विश्व के व्यापार चल रहे हैं।

गंगा ने बड़ी बहिन को ठेलते हुए कहा—"बहिन ! अकेले तो मुझे उनके समीप जाने में बड़ी लज्जा लगती है, तुम भी मेरे साथ साथ चलो।"

यमुना ने बड़प्पन से स्नेह पूर्वक पुचकारते हुए कहा—"अरी गंगे ! तू बड़ी पगली है। तू इतनी सयानी हो गई, फिर भी तुझे इतनी लज्जा आती है। अपने प्राणनाथ से किस बात की लज्जा संगम सुख ही तो सर्वश्रेष्ठ सुख है। जैसे तू मुझ से लपककर मिली है वैसे ही प्राणनाथ से मिलना।

गङ्गा ने आग्रह पूर्वक कहा—"देखो बहिन! प्रथम मिलने में सङ्कोच होता है, कोई हाथ पकड कर उनके द्वार तक पहुँचादे। तुम दोनों बहिन मेरे साथ चलो।"

यमुना बोली—"तू तो है पगली! देख, भोजन, भजन और सङ्गम सदा एकान्त में होता है, दूसरे के रहने में निरसता होती है। चल तुझे वास तक हम दोनों पहुँचाये देती है, फिर हम अलग जाकर सङ्गम करेंगी, तू अलग जाकर सङ्गम करना। सौत-सौत साथ साथ जा कर पति से नहीं मिलती, तू अभी इन बातों को क्या जाने।"

सरस्वती यमुना की सिख सुनकर हँस पडी और बोली—"बहिन अभी यह गङ्गा बच्ची है सीखते सीखते सीखेगी। तो भरि भरि कुन्ना पीसेगी। अभी तो इसे चक्की चलाना भी नहीं आता।

तीनों ने कहा—"अच्छा चलो, किन्तु आगे तीनों धाराओं का नाम तेरे ही नाम, गङ्गा रहेगा।"

गङ्गा की तो यह इच्छा ही थी। भगीरथ ने रथ हाँक दिया। गङ्गा वाराणसी की ओर बढ़ी। चम्पारण्य आदि देशों को पवित्र करती हुई वे समुद्र के समीप पहुँची। यमुना ने दूर से ही उँगली के संकेत से बताया—"देख वही हम सब सरिताओ के पति समुद्र का निकेतन है। वही तेरा उनके साथ सङ्गम होगा। अच्छा राम राम हम अब दूसरे मार्ग से जायेंगी।"

गङ्गा का हृदय प्राणनाथ के दर्शनों से बाँसों उछल रहा था, वह ऊपर के मन से बोलीं—"मुझे अकेली छोड़कर तुम दोनों कहाँ जाती हो। मैं भी तुम्हारे साथ ही चलूँगी।"

यमुना ने डाँट कर कहा—"दुर, पगली! अब भी कुछ कसर रह गई। जैसे हम प्रयागराज में युक्त हुईं थीं, वैसे ही यहाँ से मुक्त होंगी। प्रयागराज में जहाँ हम तीनों युक्त हुईं थीं। तीनों एक दूसरे से मिली थीं वह तो युक्त त्रिवेणी होंगी, जहाँ से अब हम वियुक्त हो रही हैं यह बङ्ग प्रदेश में आज से मुक्त त्रिवेणी प्रसिद्ध होगी।"

गङ्गाजी से इतना कह कर यमुना सरस्वती से बोलीं—"बहिन सरस्वती! अब तू भी अपने प्रच्छन्न रूप को छोड़ दे। यहाँ से तू भी प्रत्यक्ष प्रकट होकर अपने प्राणनाथ के पास जा।"

इतना कह कर गङ्गा, यमुना, सरस्वती की तीनों धारायें फिर पृथक् प्रथक् हो गईं।

सूतजी कहते है—"मुनियो! बङ्ग देश में अब भी मुक्त त्रिवेणी में ये तीनों धारायें प्रत्यक्ष हैं और वे तीनों ही गङ्गा, यमुना, सरस्वती के नाम से विख्यात् हैं।"

अब भागीरथी गङ्गा अपनी दोनों बहिनों से पृथक होकर सागर की ओर बढ़ीं। सगर के पुत्रों ने जितनी भूमि को खोद डाला था उसे गङ्गा जी ने अपने पावन जल से भर दिया। वही सागर के नाम से प्रसिद्ध हुआ गङ्गा जी ने जहाँ सागर के साथ सङ्गम किया है, वह गङ्गासागर सङ्गम संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है। मकर की संक्रान्ति को वहाँ अद्यावधि बड़ा भारी मेला लगता है। उस दिन समुद्र वहाँ मेला के लिये स्थान छोड़ देता है। मेला समाप्त होते ही बढ़ कर सागर पुनः उस भूमि को डुबा देता है।

सगर के साठ सहस्र पुत्र भूमि खोद कर जिस मार्ग से कपिलाश्रम में गये थे, उसी मार्ग से गङ्गाजी घुस गईं। वहाँ जाकर उन्होंने भस्म हुए साठ सहस्र सगर सुतों की राख को अपने पावन पय में डुबा दिया। गङ्गाजल का स्पर्श होते ही यम यात्रा भोगते हुए सगर सुत तुरन्त ही विमानों पर चढ़-चढ़ कर सीधे स्वर्ग को चले गये। देवताओं ने सुमनों की वृष्टि की-गन्धर्व गाने लगे—अप्सरायें नृत्य करने लगीं। बोल दे, गङ्गा मैया की जय, बोल दे गङ्गाजी की जय। "श्री राधे, श्री राधे।"

गङ्गाजी की कथा सुनकर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपने गङ्गाजी का अत्यधिक महात्म्य कह दिया। भस्म के स्पर्श से सहस्रों वर्षों से नरक में पड़े जीव तुरन्त तर जायँ, यह तो विचित्र बात है।"

सूतजी बोले—"अजी महाराज! इसमें विचित्र बात क्या है। १०० योजन से भी जो केवल गङ्गाजी का नाम लेता है—'गङ्गा' इन दो शब्दों का उच्चारण करता है, वह भी सभी पापों से विमुक्त हो जाता है, फिर जिनके शरीर के अस्थि को भस्म का गङ्गाजल से स्पर्श हो जायँ,तो उनका कहना ही क्या? एक दिन कोई राजा त्रिवेणी जी में स्नान करने आये। उनके साथ उनकी बहुत सी रानियाँ थीं। ज्यों ही उन्होंने गगा में स्नान किया त्यों ही सहस्रों मृग विमानों पर चढ़कर स्वर्ग जाने लगे रानियों ने पुरोहित से पूछा—"स्नान तो हमने किया है और ये मृग क्यों जा रहे है।"

पुरोहितने कहा—"आप लोगोने जो अपने कुचोंमें कुन्कुम मिश्रित कस्तूरी लगा रखी थी, उस कस्तूरी का गंगाजल से

स्पर्श हो गया, जिन जिन मृगों को मार कर यह कस्तूरी लाई गई थी, वे सब के सब मृग स्वर्ग को जा रहे हैं। जब परम्परा से स्पर्श होने का यह फल है, तब तो प्रत्यक्ष गंगा में जो स्नान करते है, उनके पुण्य का तो कहना ही क्या ?

सूत जी कह रहे है—मुनियो ! गंगाजी के माहात्म्य को वर्णन करने की ब्रह्माजी में सहस्र फण वाले शेष जी में भी शक्ति नहीं। फिर मैं एक मुख वाला उनके माहात्म्यको कैसे कह सकता हूँ। एक दिन की बात है कि गरुड़जी गंगाजी में बहते हुए एक सर्प को खाने के लिये लपके। सर्प दौड़ा, किन्तु गरुड़जी से भाग कर वह कहाँ जा सकता था, गरुड़जी उसे पकड़ कर ज्यों ही निगलने लगे, त्यों ही वह चतुर्भुज होकर पीताम्बर पहिन कर गरुड़जी के ऊपर सवार हो गया। अब तक तो वे उसके भक्षक थे, अब वे वाहन बन गये। भला जिसने बीच गंगा में गंगाजल भीगे शरीर से प्राणों का परित्याग किया है, उसके लिये वैकुण्ठ के अतिरिक्त और स्थान ही कहाँ है ! गरुड़जी क्या करते। गंगाजी के प्रभाव को तो कम कर नहीं सकते थे। उन्हें इस सर्प को सादर सवार कराके वैकुण्ठ को पहुँचाना पड़ा। सो मुनियो! महाराज भगीरथ को निमित्त बना कर भगवती भागीरथी इस पृथिवी पर पापियों के उद्धार के ही निमित्त आई हैं। गंगाजी न होतीं तो दीन दुखियों और पापी तापियों के पाप तापों को कौन हटाता, कौन पथभ्रष्ट लोगों को अपनाता। कौन संसार में पापो से बच पाता। गंगाजी ने भूले भटकों का पार लगाया, असंख्यों पापियों को स्वर्ग पठाया और अगणित राजर्षि ब्रह्मर्षियों को मोक्ष का मार्ग दिखाया।

सूतजी कहते है—मुनियो ! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप सगर पुत्रों के प्रसंग में गंगाजी के अवतरण की कथा कही।

सगर पुत्रों ने जो जम्बूद्वीप के चारों ओर की पृथिवी खोद डाली थी, उसे गंगाजी ने भर दिया और समुद्र से मिला दिया। इसी लिये समुद्र को सागर कहने की प्रथा चल पड़ी। गङ्गाजीके लाने का महान् यश दिलीप पुत्र महाराज भगीरथ को प्राप्त हुआ। इसी लिये गङ्गाजी भागीरथी कहाई। गङ्गावतरण की कथा के अनन्तर अब आप लोग और क्या कहने के लिये मुझे आज्ञा देते हैं।"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! आपने इक्ष्वाकुवंश का वर्णन करते २ स्वायम्भुव मनुसे लेकर महाराज भगीरथ तक के राजाओं की कथा सुनाई। अब आगे के राजाओं की कथा और सुनाइये। इक्ष्वाकुवंश में भगीरथ के अनन्तर जो प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नरपति हो गये हैं, उनमें से विशिष्ट विशिष्ट राजाओं के शिक्षाप्रद मनोहर चरित्रों को सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है। क्योंकि इसी वंश में *नराकृति भगवान् कौशलेन्द्र श्री राम ने अवतार धारण* किया है। महाराज भगीरथ के पुत्र कौन हुए और आगे का वंश कहाँ तक चला। क्योकि पुण्य श्लोक भूपतियों के चरित्रश्रवण मात्र से ही *परम पुण्य की प्राप्ति होती है।"*

यह सुन कर सूतजी बोले—"मुनियों ! मैं इक्ष्वाकु वंश के महाराज भगीरथ से आगे के राजाओं का वर्णन करता हूँ, आप उसे सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

गंगा गंगा कहें नित्य गंगाजल पीवें।
सदा वसें तट निकट गंग जलतें ई जीवें॥
गंगा रज तन लाइ नहावें गंगा जलमहँ।
वसें गंग पय परसि अनिल बिहरें जिहि थलमहँ॥
श्रीगंगा के नाम तें कोटि जन्म पातक नसहिँ।
भोगें भूप भोग बहु, अन्त जाहि सुरपुर वसहिँ॥

नलसखा महाराज ऋतुपर्ण

(६४५)

ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात् ।
दत्त्वाक्षहृदयं चास्मै सर्वकामस्तु तत्सुतः ॥*

(श्री भा०, ६ स्क० ६ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

धन्य भगीरथ गङ्ग लाइ जग कीन्हों पावन ।
तिनके सुत 'श्रुत' भये तासु सुत'नाभ' सुहावन ॥
सिन्धु द्वीप तिनि तनय भये तिनिके अयुतायू ।
तिनके सुत ऋतुपर्ण सखानलके परमायू ॥
दमयन्ती पति नल भये, तिनि कलि दीये दुःख अति ।
ह्वै विरूप ऋतु पर्णके, बने सारथी भूमिपति ॥

विद्या एक ऐसी वस्तु है, जो सबके छोड़ने पर भी नहीं छोडती। धन साथ छोड़ देता है, स्त्री भी छोडकर चली जाती है,

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! महाराज अयुतायु के पुत्र ऋतुपर्ण हुए। जो महाराज नल के सखा थे। जिन्होंने नल को द्यूत विद्या का रहस्य सिखाकर उनसे अश्वविद्या सीखी थी। उन्हीं महाराज ऋतुपर्ण के सर्वकाम नामक पुत्र हुए।

स्वजन विजन बन जाते है, ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, प्रतिष्ठा धूलि में मिल जाती है, सब धन देने से घट जाता है, किन्तु विद्या धन ऐसा धन है, जो देने से बढ़ता है। विद्या प्राप्त करने के तीन ही उपाय बताये हैं। प्रथम तो *विद्या गुरु सुश्रुषा से प्राप्त होती है,गुरु की सेवा करके जो विद्या* मिलती है वह फलवती और सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। दूसरा विद्या प्राप्त करने का उपाय यह है कि गुरु को यथेष्ट विपुल धन दे दे। इतना पर्याप्त धन दे कि जिससे उनकी समस्त आवश्यकतायें पूर्ण हो जायँ, यह शारीरिक सेवा न होकर धन द्वारा सेवा है। एक तीसरा विद्या प्राप्ति करने का यह भी उपाय है, कि तुम हमें एक विद्या दो उसके परिवर्तन मे हम तुम्हें दूसरी विद्या सिखावें। इस प्रकार आदान प्रदान से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है। इन तीनों के अतिरिक्त विद्या प्राप्त करने का कोई साधन नही। छल से प्राप्त की हुई विद्या सफल नही होती।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं– "राजन्! आपने मुझसे महाराज भगीरथ के आगे के इक्ष्वाकुवंशों के राजाओं का वृत्तांत पूछा। 'दिलीप के पुत्र महाराज भगीरथ ने गङ्गाजी के लाने के कारण विश्व में बड़ी ख्याति प्राप्त की उन्हीं के नाम से गङ्गाजी अभी तक भगीरथी कहलाती है। उन्हीं पुण्यश्लोक राजर्षि भगीरथ के पुत्र श्रुत हुए, जो पिता के ही समान पराक्रमी थे। श्रुत के पुत्र नाभ हुए। नाभ के पुत्र सिन्धुद्वीप हुए। इन सिन्धुद्वीप के सुत अयुतायु हुए जो दीर्घ जीवी और धर्मात्मा थे। इन्हीं अयुतायु के पुत्र परम तेजस्वी विश्व विख्यात् महाराज ऋतुपर्ण हुए ये द्यूत विद्या में इतने निपुण थे कि इनसे कोई द्यूत में

जीत नहीं सकता था। अयोध्याधिप महाराज ऋतुपर्णकी सर्वत्र ख्याति थी। इन्हीं यशस्वी राजा के यहाँ पुण्यश्लोक प्रातः स्मरणीय महाराज नल सारथी बनकर रहे थे।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ये महाराज नल कौन थे, क्यों ये अयोध्या में आकर महाराज ऋतुपर्ण के सारथी बने। राजा होकर यह राजा नल ने वेतन भोगी सारथी का काम क्यों किया ?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"भगवन् ! पुण्यलोक राजर्षि नल निषाद देश के राजा थे। वे बड़े ही धर्मात्मा और प्रजा पालक थे। ये महाराज युधिष्ठिर की भाँति जूए में हार गये थे। परम रूपवती दमयन्ती के कारण कलियुग इनसे क्रुद्ध होगया था। इसीलिये इन्हें नाना क्लेश सहन करने पड़े।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! राजर्षि नल का हमें पूर्ण वृत्तान्त सुनाइये।"

सूतजी बोले--"मुनियो ! नल चरित्र तो बहुत बड़ा है,यहाँ तो मैं इक्ष्वाकु वंशीय महाराज ऋतुपर्ण का वर्णन कर रहा हूँ, उनके यहाँ नल सारथी बनकर रहे, इस सम्बन्ध से मैं नल का अत्यन्त संक्षेप में चरित्र सुनाता हूँ, आप ध्यान पूर्वक सुनें।"

महर्षियो ! प्रयाग के समीप जो निषाद देश है, उसमें पूर्व काल में वीरसेन नामक राजा राज्य करते थे। उनके दो पुत्र हुए। बड़े का नाम नल था और छोटे का नाम पुष्कर था। बड़े होने के कारण नल ही राजा हुए। इन महाराज नल को त्रैलोक्य सुन्दरी विदर्भाधिप महाराज भीम की पुत्री दमयन्ती ने स्वयम्वर में देवताओं को छोड़कर स्वेच्छा से वरण किया था।

बात यह थी कि विदर्भराज भीम के कोई सन्तान नही थी, इसलिये वे रानी के सहित बड़े दुखी रहते थे। एक दिन दमन नामक महर्षि ने आकर राजा का आतिथ्य ग्रहण किया। राजा ने अत्यन्त ही श्रद्धा भक्ति सहित मुनि की सेवा की। राजन की सेवा से सन्तुष्ट हुए मुनि बोले—"राजन् ! मैं आप का कौन सा प्रिय कार्य करूँ। किस कार्य से आपकी चिन्ता दूर हो सकती है ?"

राजा ने कहा--"ब्रह्मन् ! आप सर्वज्ञ है,सबके बाहर भीतर की बात जानते है, फिर भी आप मुझसे पूछते ही है, तो मै कहता हूँ। मेरे यहाँ कोई सन्तान नहीं है। आप कृपा करके मुझे कोई सन्तान दें।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुनि बोले–"राजन् ! तुम्हारे एक ऐसी त्रैलोक्य सुन्दरी कन्या होगी, जिसकी बराबरी मृत्यु लोक में तो क्या तीनों लोक की कोई ललना नही कर सकती। उसके अतिरिक्त तुम्हारे तीन पुत्र भी होगे।"

एक साथ चार सन्तानों का वरदान पाकर राजा परम प्रमुदित हुए और बोले—"ब्रह्मन् ! मै आपके अनुग्रह का अत्यन्त ही आभारी हूँ। इस प्रकार राजा के द्वारा सत्कृत होकर दमन मुनि चले गये। कालान्तर में राजा से सर्व लक्षण लक्षणा, संसार में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी एक कन्या उत्पन्न हुई। राजा ने दमन मुनि की स्मृति में उस कन्या का नाम दमयन्ती रखा। इसके अनंतर उनके तीन पुत्र भी हुए जिनके नाम दमदान्त और दमन, रखे।

दमयन्ती कुसुम की कलिका के समान शुक्ल पक्ष के चंद्र की

किरणों के समान,दिव्य माधवी लता के समान नित्य नित्य बढ़ने लगी। अब उसने बाल्यावस्था को पार करके युवावस्था में प्रवेश किया। राजा को कन्या के विवाह की चिन्ता हुई।

जैसे सुन्दरी दमयन्ती थी, वैसे ही सुन्दर निषादाधिप महाराज नल थे। नल देवताओं से भी सुन्दर थे। लोग उन्हें भूमि का आश्विनी कुमार कहते थे। जो भी उन्हें एक बार देख लेता, वह अपने नयनों को उनकी ओर से हटाने में असमर्थ हो जाता बहुत से साधु ब्राह्मण अभ्यागत इधर से उधर एक राज्य से दूसरे राज्य में घूमा ही करते थे। राज्य घरानों में उनका सत्कार होता था, अतः वे इधर उधर के वृत्तांत सुनाया करते थे। जो भी कोई साधु [illegible] नल के पास आता, वह्ी उनसे कहता—"राजन् [illegible] तो विदर्भराज कुमारी दमयन्ती है और जो यहां से जाता वह दमयन्ती से कहता—"संसार में नल को छोड़कर तुम्हारे योग्य कोई पति नहीं है।"

एक नियम है,जिस बात को हम १०० बार सुनते हैं,कहते हैं स्मृति पर लिख जाता है। निरन्तर नल और दमयन्ती एक दूसरे की प्रशंसा सुनते-सुनते परस्पर में अनुरक्त हो गये बिना देखे ही एक दूसरे को प्यार करने लगे। संयोग की बात एक दिन बहुत से हंस राजा के बाग में आये। उनमें से एक हंस के पह्ल सुवर्ण के थे। वास्तव में वह हंस नहीं थे। किसी मुनि ने ही हंस का रूप रख लिया था। राजा ने उस हंस को पकड़ लिया। हंस ने कहा—"राजन्! मुझे पकड़कर तुम क्या पाओगे यदि तुम मुझे मुक्त कर दो, तो मैं तुम्हारा विवाह दमयन्ती के साथ करा दूँगा।" राजा तो यह चाहते ही थे। उन्होंने हंस

को छोड़ते हुए कहा—"हे मराल! यदि तुम मेरा यह प्रिय कार्य करदो, तो मैं तुम्हारी चोंच सुवर्ण से मढ़वा दूँगा, नित्य ही तुम्हें घर बैठे दूध भात पहुँचा दिया करूँगा। तुम मुझे दमयन्ती से मिला दो।" राजा की ऐसी अधीरता देखकर हंस उड़ा और दमयन्ती की पुष्प वाटिका में जा बैठा।

जब सखी सहेलियों से घिरी दमयन्ती वायुसेवनार्थ पुष्प वाटिका में आई, तो वहाँ उसने एक विचित्र अलौकिक हंस को देखा। राजकुमारी ने स्वयं दौड़ कर पकड़ लिया। उसने देखा हंस के कण्ठ में एक पत्र बँधा है। कुमारी ने कुतूहलवश पत्र खोल दिया। जब उसने पत्र पढा तो उसमें नल का नाम था पत्र पढ़ते ही राजकुमारी मूर्छित हो गई। तब हंस ने मानवीय भाषा में कहा—"देवि! तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हें महाराज नल से मिलाऊँगा। जैसा अनुराग तुम्हारा उनके प्रति है, उससे भी अधिक अनुराग उनका तुम्हारे प्रति है।"

लजाते हुए दमयन्ती ने कहा—"तुम मेरा सन्देश उनसे जाकर कहो। मैं उनके बिना अन्य किसी पुरुष की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती।"

हंस ने राजा से आकर सब समाचार कह दिया। अब राजा रात्रि दिन दमयन्ती के ही विषय में सोचते रहते थे।" कस्तूरी और प्रीति छिपाने से नहीं छिपती, सखियों द्वारा रानी को और रानी द्वारा राजा को यह समाचार मिला। महाराज भीम ने तुरन्त ही दमयन्ती के स्वयंवर की तैयारियां की देश-देश के राजा दमयन्तीके रूपकी ख्याति सुनकर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा से विदर्भ देश में आने लगे। राजा ने सभी का समुचित स्वागत सत्कार किया। महाराज नल भी दमयन्ती के प्रेम से चुम्बक

की भाँति आकृष्ट हुए चल पड़े। नारदजी से सुनकर इन्द्रादि अष्टलोकपाल भी दमयन्ती को प्राप्त करने के लिये आये। मार्गमें नल से उनकी भेंट हुई। नल से देवताओं ने कहा—"तुम हमारे दूत बनकर दमयन्ती के पास जाओ और उससे कहो, वह किसी पृथिवी के मनुष्यको वरण न करके हम लोकपालों में से किसी को वरण कर ले।"

नल ने पहिले तो मना किया किन्तु लोकपालोंके आग्रहसे और उनसे अन्तर्धान विद्या प्राप्त करके वह कुमारी दमयन्ती के अंतःपुर मे प्रहरियों के सम्मुख ही चला गया, किन्तु देवताओं के वर प्रभाव से उसे किसी ने देखा नहीं।

सहसा अपने अन्तःपुर में एक अपरिचित अनुपम रूप लावण्य युक्त पुरुष को पाकर राजकुमारी सहम गई! उसने मन्द मन्द मुसकुराते हुए कहा—"हे पुरुष सिंह! आप कौन हैं? आपको प्रहरियों ने रोका क्यों नहीं, आप निर्भीक होकर स्त्रियों के आवास अन्तःपुरमें कैसे चले आये? यद्यपि आपने अपराध किया है, किन्तु आपकी मनमोहिनी मूरति को देखकर मुझे मोह हो रहा है मुझे ऐसा लगता है, तुम मेरे जन्मजन्मान्तरों के साथी हो, मेरे आत्मीय हो, सर्वस्व हो, तुम यहाँ कैसे और किस काज से आये ये सब बातें मुझे सच सच बता दो।"

नल ने कहा—"हे सुन्दरि! मेरा नाम नल है, मैं निषाद का नरेश हूँ, लोकपालोंने मुझे दूत बनाकर तुम्हारे लिये मेरे द्वारा यह सन्देश भेजा है, कि तुम त्रैलोक्य सुन्दरी हो। इसलिये मर्त्यधर्मा मनुष्यको स्वयम्वर में वरण न करके तुम हम लोकपालोंमें से किसी एक को वरण कर लेना।"

दमयन्ती ने कहा–' देवि ! मैं निर्लज्ज होकर यह कहती हूँ, कि मेरे हृदय पर तो निषाद नरेश ने अपना अधिकार जमा लिया है। हे वीर ! मैं तुम्हें छोड़ विष्णु को भी वरण नहीं कर सकती। हृदय तो एक होता है, वह तो महाराज नल के हाथो विक गया। अब मेरे पास लोकपालों के लिए कुछ नहीं है। आप मेरा सन्देश लोकपालों से कह दें, वे भी स्वयम्वर में आवें सबके सम्मुख मैं आपको वरण करूँगी।''

अपने ऊपर दमयन्ती का ऐसा अनुपम अनुराग निहारकर राजा के रोम-रोम खिल उठे उन्होंने लोकपालों से सब वृत्तान्त जाकर कह दिया। लोकपाल भी स्वयवर सभा में पहुँचे। महाराज नल भी पहुँचे। विदर्भराज ने सबका स्वागत सत्कार किया। नियत तिथि को सभी देशों के राजा और राजकुमार सजधजकर स्वयम्वर सभा में बैठे। उसी समय नूपुरों को बजाती सबके मन को लुभाती, हृदय को हुलसाती, राजकुमारी दमयन्ती सीधी सभा में आई और आते ही महाराज नल के कंठ में जयमाला पहिनाकर नीचा सिर करके खड़ी हो गई।

सभी के मुख फक पड गये। दमयन्ती को पाकर नल परम प्रसन्न हुये। देवताओं ने भी उन्हें आशीर्वाद दिया। इन्द्र ने कहा—"तुम अपने यज्ञों में देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन करोगे और उत्तम गति को प्राप्त करोगे।"

अग्नि ने कहा—"तुम जहां चाहोगे, वही मै तुरन्त प्रकट हो जाऊँगा और अन्त समय में तुम्हे मेरे समान प्रकाशवान् तेजस्वी लोकों की प्राप्ति होगी।"

धर्मराज ने कहा—"तुम्हारे हाथ के बनाये सभी भोज्य

पदार्थ परम स्वादिष्ट होंगे और तुम्हारी मति सदा धर्म में बनी रहेगी।"

वरुण ने दिव्य माला देते हुए कहा—"यह माला कभी कुम्हिलावेगी नहीं और तुम जहाँ चाहोगे वहीं जल उत्पन्न हो जायगा।"

इस प्रकार चार लोकपालों से ८ वर पाकर महाराज नल-दमयन्ती विवाह कर अपनी राजधानी में चले गये और वहाँ जाकर सतीसाध्वी परम पतिव्रता दमयन्ती के साथ रहकर सुख से संसारी भोगों को भोगते रहे।"

कलियुग दमयन्ती को चाहता था। रूपवती स्त्रियों के मन में कलियुग चंचलता उत्पन्न करके उन्हें सदा पथभ्रष्ट करना चाहता है। जो स्त्री सुन्दरी युवती रूप होकर भी कलियुग की बात नही मानती अपने धर्म में अडिग बनी रहती है, कलियुग उन्हें भाँति-भाँति के क्लेश देकर उनके पतिव्रत की परीक्षा करता है।

द्वापर के साथ कलियुग जा रहा था, उसी समय देवता मार्ग मे मिले। देवताओं ने पूछा—"कलिदेव कहाँ जा रहे हो?'

कलि ने कहा—"मैं दमयन्ती को अपने अधीन करना चाहता हूँ, उसी के स्वयंवर मे जा रहा हूँ।"

देवताओं ने कहा—"अरे, तुम बड़े पगले हो, दमयन्ती के ऊपर तो नल का अधिकार हो गया। वह नल को छोड़कर अन्य किसी की ओर नही देख सकती।"

इस पर कलि को क्रोध आ गया। उसने कहा—"अच्छी बात है दमयन्ती को और उसके पति नल को देख लूँगा।" यह कहकर वह सूक्ष्म रूप से राजा के शरीर में घुसने का अवसर देखने लगा। एक दिन महाराज नल शीघ्रता में लघुशंका गये, लघुशंका जाकर उन्होने आचमन तो किया, किन्तु पैर नही धोये। कलियुग तो सदा अशुद्धि में बसता है, उसे ही सुअवसर पाकर कलियुग राजा के शरीर में प्रवेश कर गया। जब कलियुग शरीर मे घुस जाता है, तो प्राणी अधर्म को ही धर्म समझने लगता है। उसे सदाचार ढोंग प्रतीत होता है, सत् असत् का विवेक नष्ट हो जाता है, वह परमार्थ पथ से भ्रष्ट हो जाता है। कलियुग के प्रवेश करते ही राजा के शरीर में हठ ने प्रवेश किया। राजा का छोटा भाई पुष्कर आया और उसने इनसे जुआ खेलने का आग्रह किया। राजा ने तुरन्त इसे स्वीकार कर लिया। जब यह बात प्रजा के लोगों को मालूम हुई, तब वे सब मिलकर राजा के पास गये और उनसे प्रार्थना की—"महाराज! जुए का व्यसन अच्छा नहीं होता, इसके कारण बहुत से लोग निर्धन और गृह विहीन हो गये है, आप सबके स्वामी हैं, आपको इस निन्दित कर्म को कभी भी न करना चाहिए।" राजा ने प्रजा के लोगों की बातें अनसुनी कर दीं और वे पुष्कर के साथ जुआ खेलने लगे। कलियुग के भाई द्वापर ने जुए के पासों मे प्रवे। करके पुष्कर का पक्ष लिया। अब जो भी दाव पड़ता उसमें पुष्कर की जीत :होती, नल की हार होती। महारानी दमयन्ती ने जब सुना कि मेरे पति जुए में व्यस्त है, तो उसने मन्त्री, पुरोहित, पुरजन तथा सभी सम्बन्धियों को बुलवा बुलवा कर सब राजा को भाँति-भाँति से जुए के अवगुण कहलाये, स्वयं भी उसने धात्री के द्वारा राजा को अन्त:पुर में बुलवाया किन्तु राजा ज्यों-ज्यों हारते त्यों-त्यों वे और भी जुए में लिप्त

होते जाते । रानी ने समझ लिया,ये लक्षण अच्छे नहीं हैं, उसने सारथी को बुलाकर अपने पुत्र इन्द्रसेन और पुत्री इन्द्रसेना को अपने पिता के घर भेज दिया । सारथी दोनों बच्चों को विदर्भाधिप महाराज भीम के यहाँ रथ सहित छोड़ आया और उसने अयोध्या के महाराज ऋतुपर्ण के यहाँ, रथ हाँकने की नौकरी कर ली ।

इधर महाराज नल जुए में अपना सर्वस्व हार गये । पुष्कर प्रसन्न हुए । एक प्राचीन कहावत है, शत्रु बाहर नहीं होता, वह माता के पेट से साथ ही उत्पन्न होता है, सहोदर भाई ही धन और राज्य के लोभ से शत्रु बन जाता है । जब नल सर्वस्व हार गये, तो पुष्कर ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"भाई जी ! आप अपना राजपाट, धन वैभव यहाँ तक कि अपने शरीर के वस्त्राभूषणों को भी हार गये अब आपके पास आपकी त्रैलोक्य सुन्दरी पत्नी और है । आप चाहें तो एक बार इसे भी दाँव पर लगाकर एक हाथ और खेल लें ।"

यह सुनकर नल को मर्मान्तिक दुःख हुआ किन्तु उन्होंने लज्जावश इसका कुछ उत्तर नहीं दिया । जुए में सर्वस्व हारने पर भी उन्होंने धर्म को नहीं छोड़ा । वे चुपचाप अपने समस्त राजवस्त्राभूषणों को त्याग कर केवल एक धोती पहिन कर प्रसन्नतापूर्वक अपने राज महल से निकल पड़े । उनके पीछे-पीछे उनकी पत्नी भी सर्वस्व त्याग कर एक धोती पहिन कर चल दी । नगरवासी राजा की ऐसी दशा देखकर हाय-हाय करने लगे । चारों वर्ण के स्त्री-पुरुष बालक युवा वृद्ध झुण्ड के झुण्ड रोते बिलबिलाते राजा के पीछे दौड़ रहे थे । नल के भाई पुष्कर ने जब प्रजा का नल के ऊपर ऐसा अनुराग देखा तब तो उसे बड़ा डाह हुआ । वह सोचने लगा जो प्रजा अपने राज-

भ्रष्ट राजा पर इतना अनुराग करती है। वह मुझ में अनुराग कैसे करेगी। अतः उसने घोषणा कर दी, कि जो भी पुरुष मेरे राज्य में नल के प्रति सहानुभूति दिखावेगा, उनका स्वागत सत्कार करेगा, उन्हें अपने घरों में ठहरावेगा, उसे कड़े से कड़ा दंड दिया जायगा।"

इस राजाज्ञा के उद्घोषित होते ही सभी डर गये। भयवश कोई भी महाराज नल के निकट नही आये। राज कर्मचारियों ने अस्त्र-शस्त्रों से जाती हुई भीड़ को तितिर-बितिर कर दिया। महाराज रानी को साथ लिये अकेले ही नगर से बाहर निकले।

राजा को पैदल चलने का अभ्यास नहीं था। रानी भी अत्यन्त सुकुमारी थीं दोनों ही नंगे पैरो जा रहे थे। प्रातःकाल ही वे नगर से बाहर हुए थे। चलते चलते उनके पैरों मे छाले पड़ गये। रानी के अरुण कमल के दलो के समान सुकुमार पैरों से रक्त बहने लगा। उनका मुख कमल राज भवन रूपी पुष्करिणी से बाहर आने से मुरझा गया था। प्यास के कारण उनके ओठ सूख गये थे। ओठों पर पपड़ी जम गई थी। धूल से उनके काली काली अलकावली तथा पलकें धूमिल हो गई थीं। वे बड़े कष्ट से पग पग पर स्खलित सी होती हुई चल रही थीं। जब उनसे न चला गया तब अपने पति के कधे से कपोल सटाती हुई भर्राई वाणी से बोलीं– "प्राणनाथ! अब तो एक पग भी चलने की सामर्थ्य नहीं।

जिस रानी को स्वेच्छा से सूर्य भी नही देख सकते थे, जिन्होने जीवन में कभी भी खुली भूमि पर पग नही रखे थे। जिन्हें पैदल चलने का कभी अवसर ही प्राप्त नही हुआ था, उन्ही सुख में पली रानी की ऐसी दुर्दशा देखकर महाराज नल

का हृदय द्रवीभूत हो गया वे रोने लगे। उन्होंने अपने वस्त्र से अपनी प्यारी पत्नी के मुख को पोंछा और अत्यन्त ही स्नेह से रुँधे हुए कंठ से बोले—"देवि ! भाग्य ने मुझे ठग लिया मेरे पीछे तुम्हें भी कितने क्लेश सहने पड़ रहे हैं हाय ! मेरे जीवन को धिक्कार है। राजा को बिलखते देखकर रानी का हृदय फूट पड़ा। जिन अश्रुओं को कृपण के धन की भाँति छिपाये हुए वे अब तक चल रही थीं, उनका बाँध टूट गया। महारानी बिलखने लगी। रोती रोतीं वे बोलीं—"प्राणनाथ। मुझे राजपाट की चिन्ता नहीं। दुख सुख तो जीवन में लगे ही रहते है। आप मेरे साथ है यही मेरे लिये सबसे श्रेष्ठ सुख है।"

इस प्रकार दोनो ने परस्पर में अपने हृदय को हलका किया। एक सघन वृक्ष की छाया मे वे दोनों पड़ गये। पुष्कर के भय से प्रजा का कोई भी मनुष्य उनके समीप नही आया। नगर से दो कोस दूर पर वे बिना खाये भूखे पड़े थे। सरिता से जल ले आते। उसे ही पीकर निर्वाह करते। रानी को चलने से ज्वर आ गया था, वे पग भर भी नही चल सकती थी। अतः राजा तीन दिन उस वृक्ष के नीचे ही बिना कुछ खाये पड़े रहे।

चौथे दिन रानी को कुछ चेत हुआ। तब राजा नल उसे सहारा देते हुए आगे चले। भूख के कारण वे व्याकुल हो रहे थे। मार्ग मे कन्दमूल फलों को बीनते हुए वे चले। सहसा उनकी दृष्टि चार सुवर्ण के पंखवाले पक्षियों पर पड़ी। राजा ने सोचा यदि किसी प्रकार ये पक्षी पकड़ लिये जायँ, तो इन्हें बेचने पर बहुत द्रव्य मिलेगा. उससे मेरा कुछ दिन निर्वाह होगा ? यह सोचकर राजा ने अपने पहिनने के वस्त्र में लकड़ियाँ बाँध कर फंदे मे उसे पक्षियों पर फेंका। सब पक्षी दब गये। राजा को बड़ी

राजाने कहा--"प्रिये ! तुम जैसी पतिप्राणा पतिव्रता को मैं छोडकर कैसे जा सकता हूँ, प्रिये तुम कोई भी चिन्ता मत करो। मेरे ऊपर सन्देह न करो।"

दमयन्ती ने कहा—"जीवनधन ! मैं आपके प्रेम से सन्देह नहीं करती। आप मुझे हृदय से प्यार करते हैं किन्तु मेरे दुख से आप अत्यन्त दुखी हो रहे हैं। आप चाहते हैं, मैं अपने पिता के घर सुख से रहूँ, मुझे पिता के घर चलने में कोई आपत्ति नहीं। किन्तु मैं अकेली वहाँ नहीं जाऊँगी, आप भी मेरे साथ चलें। मेरे पिता इसमें अत्यंत प्रसन्न होंगे।

नल ने डबडबाई आँखों से भर्राई वाणी में कहा—"प्रिये! तुम सत्य कहती हो। तुम्हारे पिता का राज्य मेरा ही राज्य है। हमारा वे पुत्र की तरह पालन पोषण करेंगे, किन्तु प्रिये ? जहाँ मैं पहिले इतने ठाट बाट से जाता था, वहाँ मुझे इस भिक्षुक वेष में जाने में बड़ी लज्जा लगेगी। विपत्ति में सभी भार हो जाते है, यदि वहाँ मेरा किसी प्रकार भी अपमान हुआ, तो तुम प्राण दे दोगी। मैं इस विपत्ति की दशा में अपने सास ससुर के यहाँ नहीं जा सकता। कोई भी आत्माभिमानी इस बात को स्वीकार न करेगा।"

दमयन्ती ने कहा—"मैं आपसे आग्रह तो कर नहीं रही हूँ, मेरा तो प्रस्ताव मात्र है, कि यदि मैं जा सकती हूँ तो आप के साथ ही जा सकती हूँ। अन्यथा जो आपकी गति वह मेरी गति।"

राजा ने कहा—"प्रिये! जो भाग्य में वदा होगा वही होगा तुम चिन्ता न करो। यह कहकर राजा आगे चले। चलते चलते उन्हें एक पथिक निवास मिला। उसमें वे धूलि में ही पड़ गये रानी उनकी गोद में सिर रखकर सो गई, कि कहीं ये मुझे छोड़ न जायँ। रानी बहुत थक गई थी वे तो पड़ते ही सो गई। किन्तु नल के नयनों में नींद कहाँ ? वे तो रानी को दुखी देख कर परम व्याकुल हो रहे थे। शनैः शनैः उठकर उन्होंने सोती हुई रानी के मुख को निहारा। मुरझाई हुई कुसुम कलिका के समान, ग्रहण लगे चन्द्र के समान, कुहरे से ढके सूर्य के समान, विषादग्रस्त प्रोषित भर्तृका के समान, उसका सुन्दर मुख म्लान हो रहा था। उसके काले काले घुंघराले बाल केशपाश चिपटकर सिमटकर बाबाजियों की जटाओं के समान बन गये थे। रानी की ऐसी दशा देखकर राजा रोने लगे। शनैः शनैः उन्होंने उस के सिर को उठाकर भूमि पर रखा। रानी थकने के कारण इतनी अचेत हो गई थी, कि उन्हें कुछ मालूम ही न हुआ।

दमयन्ती को भूमि पर लिटाकर महाराज उस निर्जन वन की पथिकशाला में इधर-उधर घूमने लगे। कभी तो मन में आता इसे छोड़कर चला जाऊँ, कभी फिर सोचते यह इस निर्जन वन में अकेली कहाँ भटकती फिरेगी। राजा वड़ी देर तक चिन्ता ग्रस्त बने रहे, वे कुछ निर्णय न कर सके। अन्त में वे रानी को छोड़कर चल दिये। एक बार उन्होंने अपनी प्राणप्रिया के मुख कमल को समीप जाकर निहारा उनका हृदय फटने लगा। चित्त ऐंठने लगा। अन्तःकरण धक धक करने लगा। वे अपनी ऐसी दशा देख तुरन्त वहाँ से चल दिये। कुछ दूर जाकर उन्हें फिर रानी की याद आई। वे लौट आये। रानी अचेत पड़ी थी। कभी तो वे सोचते—"अच्छा है मेरे बिना यह अपने पिता के

घर में तो सुख से रहेगी। कभी सोचते यहाँ इसे घोर अरण्य में

एकाकी छोड़ना उचित नहीं। कभी राजा चले जाते फिर लौट

आते। ऐसे वे कई बार गये आये। अन्त मे कड़ा हृदय करके वे दमयन्ती का परित्याग करके चले गये।

प्रात:काल हुआ। दमयन्ती ने उठते ही शङ्कित भावसे इधर उधर दृष्टि डाली, किन्तु उसे अपने पति दिखाई न दिये। अब तो वह सब रहस्य समझ गई। कुररी पक्षी की भाँति वह रो रो कर बड़े आर्त स्वरमें अपने पति को पुकारने लगी–"हा!प्राण नाथ! मुझ दुखियाको आप इस घोर वनमे छोड़कर एकाकी कहाँ चले गये।" इस प्रकार दमयन्ती रोती जाती थी, विलाप करती थी और भागती जाती थी। पता नही आज उसमे इतनी शक्ति कहाँ से आ गई। आगे चलकर उसे एक भयङ्कर अजगर मिला उसने दमयन्ती को पकड़ लिया और उसे निगलने का उपक्रम करने लगा। इससे वह बहुत डरी और अपने पति को पुकारने लगी दैवयोग से उसी समय एक बहेलिया वहाँ आ गया। दमयन्ती का करुण क्रन्दन सुनकर वह उसी ओर दौड़ा उसने एक शस्त्र से अजगर का मुख फाड़ दिया। दमयन्ती सकुशल अजगर के मुख से मुक्त हो गई।

बहेलिये ने कहा—"देवि!तुम समीप के ही स्वच्छ सलिल वाले सरोवर में स्नान करके स्वस्थ हो जाओ, ये कन्द मूल फल है इन्हें खा लो। अब चिन्ता की कोई बात नहीं।

रोते-रोते रानी के आँसू सूख गयेथे, भागते-भागते पैरों में पीड़ा हो रही थी,भूख के कारण उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई थीं। अत: उन्होंने समीप के सरोवर में स्नान किया स्नान करने से चित्त स्वस्थ हुआ। कुछ फलमूल भी खाये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुन्दरता कहीं कही अभिशाप

भी बन जाती है अब तक तो उस बहेलिये ने कुछ ध्यान नहीं दिया। रानी जब स्नान करके स्वस्थ हो गई तब उस दुष्ट की दृष्टि उन देवी पर पड़ी। उनके अनुपम रूप लावण्य तथा सौंदर्य माधुर्य को देखकर व्याध काम के बाणोंसे विद्ध हो गया। उसने देवी दमयन्ती के साथ बलात्कार करने का निश्चय किया। पतिव्रता उसके मनोगत भावों को ताड़ गई। वह समीप आकर बड़ी चिकनी चुपड़ी बातें करने लगा। पतिव्रता ने क्रोध करके कहा—' यदि मैंने नैषध नाथ के अतिरिक्त किसी पर पुरुष को मन से भी न चाहा हो, तो यह दुष्ट व्याधा अभी भस्म हो जाय।" इतना कहते ही वह बहेलिया जड़ कटे वृक्ष की भाँति निर्जीव होकर भूमि पर गिर पड़ा।

बहेलियाके मरते ही रानी वहाँसे अकेली ही रोती बिलखती तथा अपने करुण कन्दन से दशों दिशाओं को भरती हुई अपने पिता की राजधानी की ओर चलने लगी। उन्होने घर से निकल कर नगर भी नहीं देखा था। आज वे घोर जङ्गलों में अकेली ही दौड़ी जा रही थी। मार्ग में उसे ऋषियों के आश्रम मिले, ऋषियों ने उसे सांत्वना और आशीर्वाद दिये। दमयन्ती ऋषियों को प्रणाम करके रोती हुई आगे चली। आगे उसे एक व्यापारियों का समूह मिला जो बैलों हाथी, घोड़ों पर सामान लादकर बेचने जा रहे थे। समूहपति की आज्ञा से दमयन्ती उनके सघ के साथ हो ली। अपने पति के मिलने की आशा से महीनों वह वणिक समूह के साथ चलती रही। उस सघ का स्वामी वृद्ध और धर्मात्मा था। अतः यात्रा में कोई दुर्घटना घटित न हुई। रानी को अब चलने का अभ्यास हो गया था। परिस्थिति ने उनके शरीर को अनुकूल बना लिया था। एक राजधानी के

समीप ठहरे हुए उस वणिक समूह पर जङ्गली हाथियों ने आक्रमण किया और दावानल भी लग गई, लोगों ने इस अनिष्ट का कारण दमयन्ती को ही समझा। वे उसे मारने की सोचने लगे। दमयन्ती उनके मनोगत भावों को समझ कर अकेली ही रात्रि में वन से चलदी। चलते-चलते उसे किसी राजा की बड़ी भारी राजधानी दिखाई दी। आधी धोती पहिने हुए दमयन्ती ने उस राजधानी में प्रवेश किया।

वह राजधानी धर्मात्मा सुबाहु राजा की थी उनकी राजमाता बड़ी दयावती पतिव्रता और सती थीं। संयोग की बात है, कि जब दमयन्ती ने नगर में प्रवेश किया तब वह अपनी चित्रसारी की छत पर खड़ी झरोखे से राजपथ की ओर देख रही थीं दमयन्ती के बाल बिखरे थे,आधी धोती में से उसका सौदर्य खान से निकली मणि के समान फूट-फूट कर निकल रहा था। नगर के लड़कों ने उसे पगली समझा वे उसे चिढ़ाने लगे और ढेले मारने लगे दमयन्ती विवशता के साथ अपने को उनसे बचाने लगी। सुबाहु महाराजकी राजमाताको दमयन्तीकी दशा देखकर बड़ी दया आई और उसने तुरन्त अपनी दासी को बुलाकर कहा "देखो यह कौन विपत्ति की मारी स्त्री है? देखने से तो यह कोई राजवंश की प्रतीत होती है। इसके अङ्गों में आभूषण नही तन पर वस्त्र नहीं। ऐसी सुन्दरी स्त्री को इतना क्लेश! यह दैव की विडम्बना है। इसे तुरन्त मेरे पास लाओ। मैं शक्ति भर इसके दुख को दूर करने का प्रयत्न करूँगी।"

रानीकी ऐसी आज्ञा सुनकर दासी तुरन्त गई और लड़कों को हटाकर वह दमयन्ती को रानी के पास ले आई। रानी ने

बड़े स्नेह से पूछा—"तू कौन है ? और इस प्रकार अकेली क्यों फिर रही है ?"

दमयन्ती ने कहा—"मैं रानियों की सेवा करने वाली सैरन्ध्री हूँ। मेरे पति बड़े गुणी थे, उन्हें जूए का व्यसन था। सर्वस्व हार कर वे मुझे लेकर वन को निकल पड़े। वन में मुझे सोती छोड़ कहीं चले गये। मैं पतिव्रता हूँ। रात्रि दिन मैं अपने पति की ही खोज में घूम रही हूँ।"

रानी ने कहा—"बेटी तू यहीं मेरे महलों में रह मैं अनेक देशों में ब्राह्मण भेजकर तेरे पति की खोज कराऊँगी। मेरे यहाँ भी देश विदेशों से बहुत ब्राह्मण आते रहते हैं। उनसे तेरे पति का समाचार मिल जायगा, या कभी भूलता भटकता तेरा पति भी आ जायगा।"

दमयन्ती ने कहा—"माताजी! मुझे आपकी छत्रछाया में रहने से कोई भय नहीं। किन्तु फिर भी आप मेरी ये बातें स्वीकार करें तो मैं आपके चरणों में रह कर अपनी विपत्ति के दिन काट सकती हूं। (१) मैं किसी का जूठा न खाऊंगी (२) किसी के पैर न धोऊँगी (३) किसी पुरुष से बातें न करूंगी (४) परदेशी विशुद्ध ब्राह्मणों से पति के खोजने की बातें करूंगी (५) मुझसे कोई छेड़छाड़ करे तो उसे दण्ड देना होगा (६) यदि कोई निरन्तर छेड़छाड़ करे तो प्राणदण्ड देना होगा।"

रानी ने कहा—"बेटी ! मैं दया के वश होकर सब कुछ कर सकती हूँ। मैं प्राण देकर भी तेरे दुख को दूर करूंगी तू मेरी लड़की के साथ रह। तू भी मेरी धर्म की पुत्री ही है।"

रानीके ऐसे दया भरे वचनोंको सुनकर दमयन्तीको सन्तोष

हुआ और वह राजकुमारी सुनन्दा की सहेलियों के साथ रहने लगी। सुनन्दा उसे बहिन की तरह प्यार करती, किन्तु दमयन्ती को तो अपने प्राणनाथ की चिन्ता थी।

इधर महाराज नल दमयन्ती को छोड़कर आगे चले। मार्गमें कर्कोटक नाग ने उन्हें डस लिया, इससे उनका सम्पूर्ण शरीर काला पड़ गया, कोई भी उन्हें देखकर पहचान नहीं सकता था कि ये निषाद देश के नरेश महाराज नल हैं। तब महाराज नल चलते-चलते अयोध्या पुरी में आये और उन्होंने महाराज ऋतुपर्ण के यहाँ रथ हाँकने की नौकरी ठीक करली। राजा इनके गुणों से विमुग्ध हो गये और कहा—"तुम मुझे अश्वहृदय विद्या सिखादो, मैं तुम्हें अक्षहृदय विद्या पाँसा फेंकने की विद्या सिखा दूँगा। महाराज नल तो यह चाहते ही थे अतः वे महाराज ऋतुपर्ण से अक्षहृदय सीखने लगे और उन्हें अश्व सञ्चालन विद्या सिखाने लगे। महाराज के हाथ के भोजन मे ऐसा स्वाद था कि राजा उनके अधीन से हो गये।

इधर दमयन्ती के पिता महाराज भीमको जब नल को जुएमें हारने का और दमयन्ती को वन में छोड़ कर कही चले जाने का समाचार मिला यो उन्होंने सहस्रों ब्राह्मणों को सभी देशों में अपनी पुत्री और दामाद का पता लगाने के लिये भेजा। एक सुदेव नामक परम बुद्धिमान ब्राह्मण खोजता खोजता चेदिराज आया जहाँ दमयन्ती महाराज सुबाहु के महलों में रहती थी। कुमारी सुनन्दा की दासियों में मलीन वसन पहिने दमयन्ती को देख कर विप्रवर सुदेव को हर्ष और दुःख दोनों ही हुए। हर्ष तो इस बात से हुआ कि मैंने दमयन्ती का पता लगा लिया और दुःख उसकी दयनीय दशा देख कर हुआ। सुदेव शीघ्रता से भीतर गया। एकान्त में उसने दमयन्ती से कहा—"बेटी! तू मुझे

पहिचानती है ? मैं तेरे पिता के यहाँ का विश्वसनीय ब्राह्मण है, मैंने तुझे गोदी में खिलाया है । मेरा नाम सुदेव है, तेरे पिता ने तुझे और तेरे पति को ढूँढ़ने देश देशान्तरों में सहस्रों ब्राह्मण भेजे है । तेरे घर में सब कुशल है । तेरे लिये तथा तेरे पति के लिये सपरिवार महाराज बड़े चिन्तित हैं ।"

दमयन्ती ने सुदेव को पहिचान लिया, वह कुछ कहना चाहती थी, किन्तु कुछ कह न सकी, उसका हृदय भर आया। भूमि में सिर टेक कर उसने ब्राह्मण को प्रणाम किया। और रोते रोते कहा—"ब्राह्मण देव! आज आपके दर्शनों से मैं अपना पुनर्जन्म समझ रही हूँ । मेरे पिता मेरे लिये चिन्तित है,मेरे पति देव की वे खोज करा रहे है, यही मेरे लिये सन्तोष की बात है। हाय ! विधाता ने हमे कैसे कैसे दिन दिखाये ।" इतना कहते-कहते दमयन्ती के धैर्य का बाँध टूट गया । वह ढाह मार कर रोने लगी । आज उसके चिरकाल से सञ्चित अश्रु श्रावण भादों की वर्षा के समान बहने लगे । समीप में ही खड़ी सुनन्दा ने जब दमयन्ती का करुण क्रन्दन सुना तो वह शीघ्रता से दौड़ कर अपनी जननी के समीप गई और सब वृत्तान्त सुना कर बोली—"सैरन्ध्री किसी अपरिचित ब्राह्मण के समीप रो रही है, अम्मा ! तुम चलकर उससे इसका कारण पूछो । अवश्य ही उसे उसके पति का समाचार मिला होगा ।

राजमाता यह सुनते ही दमयन्ती के समीप आई । सुदेव को बुलाकर उसने पूछा—"यह लड़की कौन है?किसकी पत्नी है, यह क्यों रो रही है ? आपसे इसका परिचय कैसे है, ये सब सत्य सत्य बातें मुझे सुनाओ ।"

ब्राह्मण ने कहा—"देवि! ये विदर्भाधिप महाराज भीम की

प्यारी पुत्री दमयन्ती है। निषध देश के महाराज नल की ये पत्नी हैं,इनके पति जूए में सर्वस्व त्याग कर इन्हें वन में छोड़कर कहीं चले गये। मैं इनके पिता के यहाँ का ब्राह्मण हूँ, सहस्रों ब्राह्मण महाराज ने इन्हें खोजने भेजे हैं। सौभाग्य की बात है, कि यह मुझे यहाँ मिल गई।"

इतना सुनते ही राजमाता ने दौड़कर दमयन्ती को छातीसे चिपटा लिया और रोते रोते कहा—"बेटी ! अरे तेरी ऐसी दुर्दशा। तूने मुझे अपना परिचय तक नही दिया। मैंने तो जब तू छोटी थी, बहुत दिन तुझे गोद में खिलाया है। मैं तेरी छोटी मौसी हूँ, तेरी माँ मेरी सगी बहिन है। हम दोनों ही दशार्ण देशाधिप महाराज सुदामा की पुत्रियाँ हैं,तेरे माथे पर एक मस्सा था। अब तो मलावृत्त होने के कारण वह दीखता ही नही। सुनदा ने जब सुना यह तो मेरी मौसी की लड़की है, तब तो वह उसके पैरों पर पड़ गई और रोती रोती बोली—"बहिन ! अज्ञान में ऐश्वर्य के मद में दासी समझ कर मैंने तुम्हारा बहुत अपमान किया होगा, उसे तुम क्षमा कर देना।"

कसकर सुनन्दा को अपनी छाती से चिपटाते हुए दमयन्ती ने उसके सम्पूर्ण वस्त्रों को अपने अश्रुओं से भिगोते हुए कहा—"बहिन ! इस विपत्ति में तुमने ही मुझे आश्रय दिया, नही तो मैं अब तक कभी भी जीवित न रहती।"

राजमाता ने कहा—"बेटी ! यह तेरा घर है, तू यहीं रह।"

दमयन्ती ने कहा—"मौसी जी ! मेरा घर तो है ही, किन्तु मेरे दो बच्चे मेरे पिता के यहाँ है पिताजी भी मेरे लिये चिन्तित होंगे अतः तुम मुझे विदर्भ ही पहुँचा दो।"

दमयन्ती की ऐसी बात सुनकर रानी ने अपने पुत्र सुदेव से कह कर यात्रा का सब प्रबन्ध कर दिया, पालकी में बिठाकर रक्षक सेना के साथ रानी और सुनन्दा ने रोते रोते दमयन्ती को विदा किया। दमयन्ती भी सबसे मिल भेंट कर अपने पिता के नगर को चल दी, कुछ काल में विदर्भ देश में पहुँच गई। अपनी पुत्री को पाकर राजा को परम प्रसन्नता हुई। उन्होंने उसका सिर सूंघा। दमयन्ती अपनी माता, पिता, पुत्र, पुत्री तथा भाइयों से मिली, सबसे मिल भेंट कर उसने अपनी माता से कहा—"माँ ! जैसे भी हो तैसे उनका पता लगवावें। उनके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती।"

रानी के द्वारा राजा को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने नल के अन्वेषण के लिये बहुत से चतुर ब्राह्मणों को नियुक्त किया। दमयन्ती ने उन्हें संकेत बता दिया था, कि वे सबसे कहें, "आधी धोती फाड़ कर जो जगल में अपनी पतिव्रता पत्नी को त्यागकर छिपा है, उसकी विरह में उसकी प्राणप्रिया जल रही है।" इस सदेश को पा कर ब्राह्मण चारों दिशाओं को चल दिये और सभी राजधानियों में जाकर नल की खोज करने लगे, किन्तु किसी को भी नल का पता न लगा।

एक पर्णाद ब्राह्मण घूमता फिरता अयोध्या में महाराज ऋतुपर्ण की राजसभा में पहुँचा। वहाँ उसने दमयन्ती की बताई हुई पहेली सुनाई। सुनकर कोई कुछ भी न बोला। जब वह राजा से सत्कृत होकर चलने लगा, तो मार्ग में महाराज के बाहुक नामक सारथी (महाराज नल) ने उस ब्राह्मण को बुला कर कहा—"विप्रदेव ! जो पहेली आपने सुनाई, उस पहेली कहने वाली से कह देना,'आर्य ललनायें पति के अपराधों की ओर ध्यान

नहीं देतीं। उसके पति ने उसे विवश होकर छोड़ा है किन्तु वह प्रति पल उसका हृदय से स्मरण करता रहता है, शरीर से पृथक होने पर मन से वह मिला है। योजन और कोशों का व्यवधान हार्दिक मिलन में विघ्न नहीं डाल सकता। समय आने पर उसके पति का पुनः मिलन होगा।" इतना संदेश कह कर नल चले गये। ब्राह्मण ने विदर्भ में जाकर दमयन्ती से ये सब बातें कहीं यह सुनकर दमयन्ती को बड़ा हर्ष हुआ। उसने अपनी माता से सम्मति करके पिता को बिना जताये सुदेव नामक उसी बुद्धिमान् ब्राह्मण को अयोध्या भेजा। महाराज ऋतुपर्ण पहिले ही दमयन्ती के रंगरूप पर आसक्त थे। उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया था, कि किसी प्रकार दमयन्ती मुझे प्राप्त हो जाय, किन्तु जब दमयन्ती ने लोकपालों को भी परित्याग करके नल को पति रूप में वरण कर लिया तो वे निराश हुए। फिर भी दमयन्ती के प्रति जो उनका अत्यधिक अनुराग हो गया था वह कम नही हुआ। दमयन्ती को यह बात विदित थी। अतः राजा नल को यहाँ बुलाने के लिये उसने एक षड्यन्त्र रचा। सुदेव से उसने कहा—"तुम जितने भी शीघ्र जा सकते हो, अयोध्या पुरी में जाओ और वहाँ के राजा ऋतुपर्ण से कहना—"दमयन्ती फिर से स्वयम्वर करना चाहती है, उसके पति उसे छोड़कर चले गये उनका कोई पता नहीं। किन्तु स्वयम्वर कल ही होगा। यदि आप एक रात्रि में अयोध्या से विदर्भ (वरार) पहुँच सके तो स्वयम्वर में सम्मिलित हों।"

सुदेव दमयन्ती की बात सुनकर शीघ्रता से अवध पुरी में गये और वहाँ एकांत में जाकर राजा से सब बातें कही। सुनकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा, उसने अपने बाहुक नामक प्रधान सारथी को बुलाकर कहा—"बाहुक। यदि आज दिन

भर में तू मुझे विदर्भ पहुंचा दो तो मैं तुझे मन माना पारितोषिक दूँ। सुना है भीम नन्दिनी दमयन्ती कल प्रातः दूसरा स्वयम्वर करना चाहती है। मैं उसमें पहुंचना चाहता हूँ।"

यह सुनकर नल का हृदय विदीर्ण हो गया। उसे विश्वास तो नहीं हुआ, उसने समझ लिया, दमयन्ती ने मुझे बुलाने के लिये ही यह उपाय रचा है, उसने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! मैं आप को सायंकाल तक विदर्भ पहुंचा दूँगा।"

राजा नल का सारथी जो दमयन्ती के पुत्र को पहुंचाकर रथ को विदर्भ ही छोड़कर अयोध्या पुरी मे ऋतुपर्ण का सारथी बन गया था, वह भी नल के साथ रहता था। किन्तु नल को तो कर्कोटकने डस लिया था, इसलिये वे काले कुरूप और ठिगने बन गये थे। इसलिये वह उन्हें पहिचान न सका। विदर्भ जाते हुए राजा ने वार्ष्णेय को भी रथ के साथ लिया। वार्ष्णेयने शीघ्रता से रथ हाँका तो घोड़े बैठ गये। इस पर महाराज ऋतुपर्णको बड़ा दुःख हुआ ये घोड़े कैसे मुझे दिन भर में विदर्भ पहुंचावेंगे। राजा की विकलता देखकर नल स्वयं रथ हाँकने बैठे। नल के बैठते ही घोड़े पक्षियों की भाँति पृथ्वी पर उड़ने लगे। रथ की ऐसी तीव्र गति देखकर राजा को विश्वास हो गया कि सायं काल होते ही यह अवश्य मुझे कुन्डिनपुर पहुँचा देगा। रथ की घड़घड़ाहट और अश्वचालन की ऐसी चातुरी देखकर वार्ष्णेय जो नलका पूर्व सारथी था, उसे संदेह होने लगा कि यह व्यक्ति या तो इन्द्र का सारथी मातली है या निषाधिपति महाराज नल ही हैं क्योंकि नलके अतिरिक्त पृथिवी पर कोई भी ऐसी विद्या नहीं जानता। किन्तु कर्कोटक के काटने और काया में कलि के प्रवेश करने से उनके रूप रंग

माप सब ही परिवर्तित हो गये थे, किन्तु उनकी अंग संचालन की गतिविधि को देखकर वार्ष्णेय को वार-बार संदेह होने लगा।

इतने ही में रथ से अत्यन्त शीघ्र चलने के कारण महाराज ऋतुपर्ण का दुपट्टा गिर गया। उसी क्षण राजा ने शीघ्रता से कहा—"बाहुक ! तनिक रथ को रोक दे, मेरा दुपट्टा गिर गया, वार्ष्णेय दौड़कर उसे उठा लावें।" इतने शब्दों को सुनते ही हँसकर नल बोले—"राजन्। आपने जितनी देर में ये शब्द कहे है उतनी देर में रथ दो कोश दूर निकल आया। अब आप दुपट्टे की आशा न रखें।'

राजा को नल की इस अश्वविद्या तथा रथ-संचालन चातुरी पर बड़ा आश्चर्य हुआ। रथ में बैठे ही बैठे राजा बोले—"बाहुक जैसे तुम अश्वविद्या में निपुण हो, वैसे हो मैं गणना करने में निपुण हूँ, देखो सामने जो यह बहेड़े का वृक्ष है इसकी दोनों डालियों पर और टहनियों पर पाँच करोड़ पत्ते और दो हजार पिचानवे फल लगे हैं।"

इतना सुनते ही नल के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा उसने रथ को लौटाकर बहेड़े के सम्मुख खड़ा कर दिया और रथ से उतर कर बोले—"राजन् ! जब तक मैं इस पेड़ के सब पत्ते और फलों को गिनकर अपने कुतूहल को शांत न कर लूँगा, तब तक आगे न बढ़ूँगा।"

इस पर विनती करते हुए राजा ऋतुपर्ण ने कहा—'भैया, देखो ! विलम्ब हो रहा है, तुम हठ मत करो पीछे आकर मैं स्वयं अपनी परीक्षा दे दूँगा।"

राजा नल ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"राजन् ! आप चाहें

ऐं करें चाहें वें करें। मैं इस पेड़ के पत्ते फलों को गिने बिना यहाँ से कभी टल नहीं सकता। आप को शीघ्रता हो तो वार्ष्णेय से रथ हँकवाकर चले जाइये। विदर्भ देश का यह मार्ग सीधा पड़ा है।"

विवशता के स्वर में राजा ने कहा—"बाहुक। वार्ष्णेय की सामर्थ्य के बाहर वात है अश्वविद्या में तो तू ही निपुण है। अच्छी वात है भैया। अच्छी बात है भैया। मैं तेरे अधीन हूँ, तू अपना कुतूहल शांत कर ले।" अब तो महाराज नल ने उस बहेड़े के पेड़ को काटकर उन्होंने उसके पत्ते और फलों को तोड़ कर गिना। जितने राजा ने बताये थे, उतने ही हुए। यह देख-कर नल को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—"महाराज। जिस विद्या के प्रभाव से आप इतनी शीघ्रता से गणनाकर सकते हैं, उसे मुझे भी बतावें, तब मैं रथ आगे बढ़ाऊँगा।"

राजा ने कहा—"बाहुक। जितना मैं गणना करने में निपुण हूँ, उतना ही अक्ष-पासे खेलने में भी निपुण हूँ, तुम मुझे अश्व-हृदय विद्या सिखा दो, मैं तुम्हें अक्षहृदय विद्या सिखाता हूँ। मैं तो अक्षहृदयविद्या तुम्हें अभी देता हूँ, तुम मुझे अश्वविद्या पीछे सिखाना।" इतना कहकर ऋतुपर्ण ने नल को विधिवत् अक्ष-विद्या सिखाई। उस विद्या के सीखते ही राजाकी काया से कलियुग निकलकर भाग गया। राजा ने उसे शाप देना चाहा किन्तु कलियुग ने वरदान दिया, कि महाराज! जो आपके चरित्र को श्रद्धा से सुनेंगे उन्हें मैं कभी क्लेश न दूंगा।"

कलियुग के शरीर से निकलते ही राजा नल का मुखमण्डल दमकने लगा। कलियुग बहेड़े के पेड़ में घुस गया। उसके घुसते ही वह बड़ा वृक्ष छोटा ठिगना हो गया। अब बाहुक बने नल ने

रथ को हांक दिया और सूर्यास्त से पूर्व ही वे राजा को लेकर विदर्भ देश की नगरी कुन्डिनपुर में पहुंच गये। राजा नल के रथ की घड़घड़ाहट सुनकर उनके कुन्डिनपुर में रहने वाले घोड़े हिनहिनाने लगे। दमयन्ती ने जब रथ की घड़घड़ाहट सुनी तो उसे विश्वास हो गया, कि इस रथ को मेरे पति ही हांक रहे है, ऐसा शब्द उनके रथ चलने से ही होता है।

कुन्डिनपुर में स्वयंवर की किसी प्रकार भी कोई तैयारी नहीं थी न कोई राजा तथा राजकुमार ही आये थे, न पुरी ही सजाई गई थी। महाराज ऋतुपर्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ। महाराज भीम ने जब सुना कि अयोध्या के महाराज ऋतुपर्ण मेरे यहाँ पधारे हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। अत्यन्त आह्लाद के सहित उनका स्वागत सत्कार किया कुशल प्रश्न के अनन्तर महाराज प्रसंग वश पधारने का कारण जानना चाहा। महाराज ऋतुपर्ण ने स्वयंवर की कुछ भी तैयारियाँ न देखकर बात को टालते हुए कहा—"आप के दर्शन हुए बहुत दिन हो गये थे इसीलिये मिलने मिलाने चला आया।"

महाराज भीम ने कहा—"यह मेरा अहोभाग्य आप यहाँ विराजें। मेरा राज्यपाट आपका ही है, मैं भी आप का ही हूँ। महाराज ऋतुपर्ण बड़े चक्कर में पड़े। मुझे ऐसी सूचना किसने और क्यों दे दी। राजा से पूछने को भी उन्हें साहस नही हुआ। कन्यादान जीवन में एक बार ही होता है, कुलवती कन्या एक ही बार पतिवरण करती है। अतः वे तुरन्त लौटने के लिये आग्रह करने लगे। राजा भीम ने कहा—"महाराज। आप सौ योजन से भी अधिक यात्रा करके आये हैं। आप हमें अपना नहीं समझते। यहाँ सुखपूर्वक निवास करें।"

महाराज भीम के आग्रह को ऋतुपर्ण टाल न सके। राजा के महलों में वे अतिथि हुए। वाहुक ने अश्वशाला में जाकर घोड़े को खोल और उनको यथायोग्य परिचर्या की।

राजा का भोजन भी वाहुक ही बनाते थे, क्योंकि लोकपालों के आठ वरदानों में उन्हें भोजन में अलौकिक स्वाद होने का भी वर था। दमयन्ती ने दूर से वाहुक बने राजा को देखा, उसकी चेष्टायें तो सब नल की सी थीं, किन्तु रूप रंग और आकार बदल जाने से उसको शंका हुई। उसने अपनी सखी केशिनी को नल के पास भेजा। केशिनी ने बड़े प्यार से उसका समाचार पूछा। नल ने कहा—"महाराज ऋतुपर्ण दमयन्ती का स्वयंवर सुनकर दौड़े आये हैं। मेरे साथ जो दूसरा सारथी है वह महाराज नल का वार्ष्णेय नामक सारथी है, मैं महाराज का प्रधान सारथी हूँ।"

केशिनी ने पूछा—"आपको या वार्ष्णेय को महाराज नल का कुछ पता है, वे आज कल कहाँ हैं ?"

नल ने कहा—"वार्ष्णेय तो उनके पुत्र पुत्रियों को यहाँ पहुँचा कर अयोध्या चला गया वहाँ उसने नौकरी कर ली और महाराज नल तो अपना वेश बदले इधर उधर घूमते रहते हैं, उन्हें कोई पहिचान नहीं सकता।"

केशिनी ने कहा—"यहाँ के एक गुदेवने कोई पहेली कही थी, उसका आपने क्या उत्तर दिया था।"

राजा ने कहा—"मैंने पतिव्रता सतीसाध्वी आर्य ललनाओं का धर्म समझाया था, कि पति के ऊपर वे किसी दशा में भी क्रुद्ध नहीं होतीं।"

केशिनी ने ये सब बातें जाकर दमयन्ती से कहीं, सुनकर दमयन्ती का हृदय बांसों उछलने लगा, फिर भी उसे नल के रूप के कारण सन्देह ही बना रहा। अबके उसने केशिनी से कहा—"तू गुप्त रूप से जाकर उसकी सब क्रियाओं को देखकर मुझे बताना।"

केशिनी गई और सब देखकर उसने बताया वह तो आलौकिक पुरुष हैं, बिना अग्नि के अग्नि उत्पन्न कर लेता है, रीते घड़ों को संकल्प के पानी से भर लेता है, वह पाक विद्या में बड़ा निपुण है, उसमें अनेक अलौकिक गुण हैं।"

दमयन्ती ने कहा—"उसके हाथ के बने कुछ पदार्थ तू मांग ला।"

केशिनी किसी प्रकार उससे कुछ भोजन की वस्तुएँ मांग लाई, दमयन्ती ने उन्हें चखकर निश्चय कर लिया, ये मेरे पति के बनाये हुए पदार्थ है।"

फिर भी उसे नल के रूप और छोटे आकार को देखकर संदेह बना रहा। अबके दमयन्ती ने केशिन के साथ अपने दोनों बच्चों को नल के पास भेज दिया। उन देव सदृश बच्चों को देखकर नल ने दौड़कर उन्हें छाती से चिपटा लिया और बार-बार प्यार करके उनका मुख चूमने लगे। वे आत्म-विस्मृति होकर बालकों की भांति रुदन करने लगे। बार-बार बच्चों का सिर सूंघने लगे। उनके ऐसे वात्सल्य प्रेम को देखकर केशिनी को निश्चय हो गया, कि ये पुण्यश्लोक महाराज नल ही हैं।"

कुछ काल के पश्चात् बाह्य ज्ञान होने पर आंसुओं को पोंछते हुए नल बोले—"केशिनी! देख, तू बार-बार मेरे पास मत

आया कर। तेरे एकान्त में बार-बार आने से लोग तेरे और मेरे चरित्र पर संदेह करने लगेंगे।" हे भामिनी! जैसे ये बच्चे हैं वैसे ही मेरे बच्चे थे, उनकी स्मृति आने से मेरी यह दशा हो गई। तू कुछ और बात मन में न सोचना।"

यह कहकर नल ने अपने पुत्र पुत्री को विदा किया। उनका हृदय फट रहा था, वे विकल हो रहे थे। केशिनी ने जब सब समाचार दमयन्ती को सुनाया, तो उसे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहा। उसने अपनी माँ से कहकर राजा के द्वारा बाहुक को अन्तःपुर में बुलाया। राजाज्ञा पाकर बाहुक सारथी के वेश में अन्तःपुर में गये। दमयन्ती ने उठकर बाहुक सारथी का सत्कार किया और डबडबाई आँखों से उसने नल की ओर निहारा अपनी प्यारी पत्नी को मुखे वस्त्र पहिने रूखी जटा के भार को लादे देखकर महाराज नल ढाँह बाँधकर रोने लगे। उनके कृश शरीर और मुरझाये मुख को देखकर उनका धैर्य छूट गया। वे अपने को सम्हालने में समर्थ नहीं हुए। नल को रोते देखकर रानी का भी हृदय फटने लगा। वे भी रो पड़ी और मूर्छित होकर गिर पड़ी। फिर भी नल ने उनका स्पर्श नहीं किया।

कुछ काल में चेत होने पर दमयन्ती ने शीतल जल से मुख धोकर कहा—"बाहुक! तुम किसी ऐसे निर्दय पुरुष को जानते हो, जो अपने प्राणों से भी प्यारी पत्नी को घोर अरण्य में अर्ध रात्रि में एकाकी छोड़कर भाग गया हो। जो स्वयं सुख से रहता हो और जिसकी पत्नी वियोग में तड़प रही हो।"

यह सुनकर महाराज नल ने दौड़कर दमयन्ती को हृदय से लगा लिया और कहा—"प्रिये! मैंने तुम्हें निर्दयता से नहीं छोड़ा राज्यपाट मैंने स्वेच्छा से नहीं छोड़ा कलियुग ने मेरे शरीर

में प्रवेश करके मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। उसी ने मुझसे राज्यपाट छुड़वाया, तुमसे विलग कराया अब जो हुआ सो हुआ। अब कलियुग मेरे शरीर से निकल गया है। अब फिर हमारे दिन फिरेंगे। फिर हम पूर्ववत् सुख और ऐश्वर्य का उपभोग करेंगे। इस प्रकार चौथे वर्ष में पति और पत्नी का पुनः आकर मिलन हुआ। रात्रि भर दोनों पति पत्नी अपने सुख दुख की बातें कहते सुनते रहे। प्रातः काल नल और दमयन्ती ने स्नान किया वस्त्र भूषणों से सुसज्जित होकर उन दोनों ने महाराज भीम को प्रणाम किया। अपनी पुत्री के साथ जामाता को देखकर राजा को बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने इसके उपलक्ष्य में बड़ा भारी उत्सव काराया और ब्राह्मणों को विविध दान दिये।

महाराज ऋतुपर्ण को जब ज्ञात हुआ, ये महाराज् नल है, तब तो उन्होंने इनसे क्षमा याचना की। नल ने उन्हें अश्वहृदय विद्या सिखा दी। नल ने भी राजा से अक्ष विद्या भली भाँति सीख ली। कर्कोटक ने अपना विष भी आकर उतार लिया। इससे महाराज पूर्ववत् सुन्दर हो गये। कलियुग उनके शरीर से पहिले ही निकल चुका था अतः अब वे चन्द्रमा के समान सुशोभित हुए। महाराज ऋतुपर्ण भीम और नल से अनुमति लेकर अयोध्या चले गये। कुछ काल कुण्डिनापुर में रह कर नल अपनी प्यारी पत्नी दमयन्ती के साथ कुछ धन और सैनिक लेकर अपनी राजधानी में गये। उन्होंने फिर अपने भाई पुष्कर के साथ जूआ खेला। अबके पुष्कर अपना राज पाट सर्वस्व हार गये। उसने दमयन्ती का अपमान किया था, अतः वह डर रहा था, कि महाराज मुझे मार डालेंगे, किन्तु महाराज नल तो धर्मात्मा थे। उन्होंने कहा—"भैया! पुष्कर! देखो भाग्य ही सब सुख दुख देता है। कौन किसे सुखी दुखी बना सकता है।

कलियुग ने ही मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी। इसमें तुम्हारा अपराध नही। तुम मेरे सहोदर छोटे भाई हो शत्रु नही। मैं तुम्हें मारूँगा नहीं मेरा तुम्हारे ऊपर पूर्ववत् अनुराग है। तुम्हारा जितना पहिले राज्य तथा धन था, उसे मैं तुम्हें लौटाये देता हूँ तुम्हारा भगवान् भला करें, अपने नगर में जाकर सुख पूर्वक राज्य सुख भोगो। तुम्हें जब भी किसी वस्तु की आवश्यकता हो, मुझ से कहो।"

यह सुनकर पुष्कर अपने बड़े भाई के पैरों पड़ गया और रोते रोते बोला--"भाई जी ! मैं बड़ा नीच हूँ,मेरे कारण आपको अत्यन्त क्लेश सहने पड़े किन्तु आज से संसार में सर्वत्र आप का यश फैल जायगा। आपके पुण्य पवित्र चरित्र का लोग श्रद्धा सहित गान करेंगे उनका कलिकाल कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता।"

पुष्कर की ऐसी बात सुनकर महाराज नल ने उसे बार-बार हृदय से लगाया और अत्यन्त प्यार के साथ उसे विदा किया। फिर प्रजा के लोगों ने महाराज नल के आगमन पर बड़े बड़े उत्सव किये। महाराज ने भी सब का यथोचित सत्कार किया और वे दमयन्ती के साथ सुख पूर्वक अपने राज्य मे उसी प्रकार रहने लगे जैसे स्वर्ग में शची के साथ शतक्रतु रहते हैं। महाराज ने बड़े बड़े यज्ञ किये और अन्त में पुण्य लोकों को प्राप्त किये।

सूतजी कहते हैं -"मुनियो ! जैसे महाराज नल के दिन फिरे वैसे सबके फिरें। जैसी विपत्ति महाराज नल पर पड़ी वैसी किसी शत्रुओं पर भी न पड़े। इस प्रकार मैंने संक्षेप मे महाराज ऋतुपर्ण के प्रसङ्ग मे पुण्य श्लोक महाराज नल का पावन चरित्र कहा। जो लोग कर्कोटक नाग का, नल और दम-

यन्ती का तथा अयोध्याधिप महाराज ऋतुपर्ण के नाम का नित्य कीर्तन करते है, उन्हें कलि कृत दोप दुःख नही दे सकते॥ इसके अनतर आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी। महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र कौन हुए। कृपा करके ऋतुपर्ण से आगे के मुख्य इक्ष्वाकु वंश के राजाओ का चरित्र हमें सुनाइये।"

इसपर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो ! मै महाराज ऋतुपर्ण से आगे के राजाओं का वृतान्त सुनाता हूँ, आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

दमयन्ती पति तजी भाग्यवश आई पितु घर।
पति खोजन हित रच्यो दुवारा मृषा स्वयम्बर॥
नल ऋतुपर्ण समेत ससुर गृह रथलै आये।
नल दमयन्ती मिले सुनत सब जन हरषाये॥
कायातें कलियुग भग्यो, जब नृप के दिन फिरि गये।
गयो राज फिरितें मिल्यो, जग यश भागी नल भये॥

॥ कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्यच।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्

ततः सुदासस्तत्पुत्रो मदयन्तीपतिर्नृप ।
आहुर्मित्रसहं यं वै कल्माषाङ्घ्रिमुत क्वचित् ॥
वसिष्ठशापाद् रक्षोऽभूदनपत्यः स्वकर्मणा ॥*॥

(श्री भा० ९ स्क० ९ अ० १८ श्लोक)

छप्पय

हय विद्या ऋतुपर्ण नृपतिवर नलतें लीन्हीं ।
पासो फेंकन कला तिनहिं बदलेमहँ दीन्हीं ॥
सर्वकाम ऋतुपर्ण पुत्र बलवान् शूर अति ।
सुत सुदास तिन भये सुरानी दमयन्तीपति ॥
मृगया हित बन महँ गये, हन्यो राक्षस भूप तहँ ।
तिहि भ्राता धरि सूद वपु, करै रसोई महलमहँ ॥

कभी-कभी सर्वज्ञ मुनियों को भी भ्रम हो जाता है दो

---

*श्रीशुकदेवजी कहते है—राजन् ! ऋतुपर्ण के पुत्र सर्वकाम के सुत सुदास हुए । जिनकी पत्नी का नाम दमयन्ती था । जिनका नाम मित्र सह और कहीं कल्माषपाद भी मिलता है । वे महर्षि वशिष्ठ के शाप से राक्षस हो गये थे और अपने ही कर्म के कारण पुत्र उत्पन्न करने में असमर्थ हुए ।"

प्रकार के सर्वज्ञ होते हैं, एक तो ऐसे होते हैं, जिन्हें सर्वदा ही
अखण्ड ज्ञान बना रहता है। दूसरे ऐसे होते है जो जब वे वाह्य
व्यवहार में लगे रहते है, तो उनका ज्ञान सर्व साधारण पुरुषों
के समान होता है, किन्तु जब वे चित्त को समाहित करके ध्यान
मग्न होते है,तब होने वाले भूत, भविष्य तथा वर्तमान का समस्त
ज्ञान हस्तामलकवत् होने लगता है। यह जो शापाशापी होती है
ऐसे ही सर्वज्ञ मुनियों द्वारा होती है, जैसा होन हार होता है
वैसे ही बुद्धि बन जाती है, वैसे ही उनके मुख से अकस्मात
शाप निकल जाता है पीछे ध्यानस्थ होकर उसके विषय में
विचार करते हैं, तो उसके प्रतीकार की अवधि या उपाय भी
वता देते हैं। कोई न किसी को शाप दे सकता है, न असमय
पर अनुग्रह ही कर सकता है। जिसका जैसा समय होता है,उसके
वैसे ही सब संयोग जुट जाते हैं। भविष्यता चलकर स्वयं नहीं
जाती, उसे ही घेर बटोर कर ले आती है।

श्री शुकदेवजी कहते है–"राजन्! यह तो मैं बता ही चुका
हूँ, कि इक्ष्वाकुवंश में अयुतायु के सुत नल के सखा ऋतुपर्ण हुए।
धर्मात्मा महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र सर्वकाम हुए। सर्वकाम के
सुत सुदास हुए जो कल्माषपाद और मित्रसह के नाम से भी
प्रसिद्ध हुए। जो वशिष्ठ जी के शाप से नर भक्षी राक्षस हो
गये थे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने पूछा–"प्रभो! धर्मात्मा राजा
सुदास राक्षस किस अपराध से हो गये? सर्वज्ञ महर्षि वशिष्ठ ने
अपने प्रिय शिष्य सुदास को ऐसा कठिन शाप किस कारण
दिया?"

इस पर श्री शुकदेवजी बोले—"कोई किसी को दुःख सुख

नहीं दे सकता। जो कहता है मुझे अमुक ने सुख दिया अमुक ने दुःख पहुँचाया, वह कुबुद्धि है। सर्वप्राणी कर्मसूत्रों में बँध कर विवश होकर कार्य कर रहे हैं। एक दिन की बात है, कि परम यशस्वी धर्मात्मा महाराज सुदास मृगया के निमित्त वन को गये। वहाँ दो राक्षस भाई सिंह का रूप रखकर घूम रहे थे। उनमें से राजा ने एक को तो मार दिया और एक को छोड़ दिया। अपने भाई के मरने से उस राक्षस को बड़ा क्लेश हुआ। उसने जैसे हो तैसे राजा से बदला लेने का निश्चय किया।

एक दिन वह राक्षस राजा के रसोइया को उठा ले गया और स्वयं वशिष्ठ का रूप रखकर राजा के पास गया और बोला— "राजन् ! आज हम नर मांस खाना चाहते हैं।"

अपने गुरु के मुख से ऐसी अधर्मपूर्ण बात सुन कर राजा को परम विस्मय हुआ, कि गुरुजी आज कैसी बातें कह रहे हैं। फिर भी उसने तुरन्त रसोइयों को मांस बनाने की आज्ञा दे दी। अब उस राक्षस ने वशिष्ठ का रूप तो छोड़ दिया। रसोइये का रूप रख लिया। वह वधशाला से एक मृतक पुरुष को उठा लाया और उसके मांस को बनाया। जब यथार्थ में वशिष्ठ भोजन करने आये तो राजा ने सुवर्ण के थाल में मांस के सहित अन्य पदार्थ मुनि को परोसे। जब वशिष्ठ ने देखा, कि राजा ने मुझे नर मांस परोसा है, तब तो वे बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होने बिना कारण जाने क्रोध मे भर कर कहा—"अरे दुष्ट ! नर मांस तो राक्षसों का आहार है, तैने मेरे सम्मुख राक्षसों के खाने योग्य पदार्थ परोसे इसलिये तू राक्षस हो जा।"

राजा ने क्रोध करके कहा—"आप ने ही तो मुझे आज्ञा दी थी।"

मुनि ने कहा—"झूठ बोलता है, मैंने तुझे कब ऐसी आज्ञा दी।"

राजा ने कहा—"प्रातःकाल ही आपने आकर मुझ से कहा था, कि मेरे लिये नरमास बनाना।"

मुनि ने कहा—"मैं प्रातःकाल यहाँ आया भी नहीं।"

राजाने दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं, आप आये थे और स्वयं मुझ से आपने कहा था।"

राजा की दृढ़ता और निर्भीकता से प्रभावित होकर मुनि ने ध्यान लगाया और ध्यान में सभी बातें जानकर नम्रता के साथ बोले—"राजन्! भूल हो गई राक्षस की यह सब करतूत है। जिस राक्षस के भाई को आपने मारा था, उसी ने मेरा रूप बना लिया था, और उसी ने रसोइये का रूप रखकर इस अभक्ष्य पदार्थ को बनाया है, किन्तु मैंने कभी हँसी में भी झूठ नही बोला, अतः आपको नर भक्षी राक्षस तो बनना ही पड़ेगा, किन्तु जीवन भर नहीं। १२ वर्ष के पश्चात् आपका राक्षसपना छूट जायगा आप फिर राजा हो जायँगे।"

राजा को इस बात पर बड़ा क्रोध आया। गुरु अकारण ही बात को बिना जाने मुझे शाप दे रहे हैं यह इनका कार्य अनुचित है। राजा भी सामर्थ्यवान् थे, अतः वे भी हाथ में जल लेकर गुरु वशिष्ठ को शाप देने को उद्यत हो गये।

गुरु को शाप देते देखकर महाराज की पत्नी मदयन्ती ने राजा को रोकते हुए कहा—"प्राणनाथ! आप यह क्या कर रहे है। यह कार्य आपके अनुरूप नहीं है। गुरु को कभी भी शाप न देना चाहिये।"

क्रोध में भरकर राजा ने कहा—"प्रिये ? तुम समझती तो हो नहीं। मेरा कोई अपराध होता, तब तो शाप देना उचित ही था। बिना अपराध के भी जो मुझे राक्षस बना रहे हैं, उन्हें मैं शाप भी न दूँ ?"

मदयन्ती ने धैर्य के साथ अत्यन्त मधुरवाणी में कहा—"प्राणनाथ ! मैं सब कुछ समझती हूँ। गुरु चाहें मारें चाहें ताड़ना दें। शाप दें या अनुग्रह करें सभी दशाओं मे वे पूजनीय है वन्दनीय हैं। आप किसी भी दशा मे गुरु को शाप देकर अपने समस्त वंश का विनाश ना करावावें।"

महारानी की यह युक्तियुक्त बात महाराज के हृदय में बैठ गई। वे शान्त होकर बोले—प्रिये ! क्रोध करके जो मैंने हाथ मे जल उठाया है, वह तो अमोघ है, इसे कहाँ फेकूँ ?"

रानी ने कहा—"किसी दिशा में उसे छोड़ दो।"

राजा ने कहा—"कहाँ छोड़ूँ ! मैं तो ऐसा अणुभर भी स्थान नही देखता जहाँ असंख्यों जीव न हों। जिधर ही छोड़ूँगा उधर ही जीव मरेंगे। अत: इसे मैं अपने पैरों पर ही छोड़ लेता हूँ।" यह कह कर राजा ने उस शाप के जल को अपने पैरों पर छोड़ लिया। उस पापमय पय के पड़ते ही महाराज के पैर काले पड़ गये। उसी दिन से महाराज का नाम कल्माष-पाद पड़ गया।

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! महाराज सुदास के कल्माषपाद नाम पड़ने का कारण तो आपने बताया, किन्तु उनका 'मित्र सह' नाम क्यों पड़ा। इस विषय में भी कोई इतिहास हो और यदि वह गोपनीय न हो, तो मुझे बताइये।"

यह सुन कर श्री शुक बोले—"राजन् ! अपनी प्यारी पत्नी मदयन्ती जो मित्र के समान है उसकी बात को सहने मानने के कारण ही महाराज का नाम मित्रसह पड़ा। उन्होंने स्त्री के कहने से गुरु को शाप नहीं दिया। अब वे राक्षस हो गये। हो क्या गये, आकृति तो उनकी मनुष्यों जैसी ही रही, किन्तु जङ्गलो में घूम-घूम कर मनुस्यों को खाने लगे और राक्षसों जैसी चेष्टायें करने लगे। सुनते हैं, भगवान् वशिष्ठ के पुत्र शक्ति को भी विश्वामित्र जी की प्रेरणा से ये ही राजा खा गये थे। विश्वामित्र जी की वशिष्ठ जी से पुरानी लाग डाँट थी। जब वशिष्ठजी के ही शाप से राजा राक्षस हो गये, तो उन्होने इन्हें प्रेरणा करके शक्ति के पास भेजा और ये शक्ति को खा गये। शक्ति की पत्नी गर्भवती थी उसी से पराशर जी का जन्म हुआ। जिन्होंने पिता का वदला लेने के लिये एक राक्षस यज्ञ आरम्भ किया। जिसमें वहुत से राक्षस आ आकर जल ने लगे। यह देख कर राक्षसों के जनक भगवान् पुलस्त्य आये और उन्होने वशिष्ठ के साथ इन्हें समझाया वुझाया। तब कही जाकर वे इस अभिचार यज्ञ से उपरत हुए। राजा ने राक्षस भावापन्न होकर बहुत से पाप किये। ब्रह्म हत्याएँ कीं। इसी समय महाराज को अनपत्य होने का शाप भी मिला, जिससे वे स्वय संतति उत्पन्न करने में असमर्थ हो गये।"

यह सुन कर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन् ! महाराज कल्माष पाद को किसने अनपत्य होने का शाप दिया। महाराज ने उसका ऐसा कौन सा अपराध किया था, इस कथा को श्रवण करने की मेरी बड़ी उत्कट अभिलाषा है, यदि आप मुझे अधिकारी समझते हों और कोई न कहने योग्य बात न हो, तो कृपा करके इसके कारण को मुझे अवश्य सुनाइये।"

राजा के मुख से ऐसी बात सुन कर श्री शुक कहने लगे— "राजन् ! मैं आप को महाराज कल्मापपाद के राक्षस भाव में किये हुए चरित्रों के प्रसङ्ग में उन्हें जिस प्रकार अनपत्य होने का शाप मिला उसे सुनाता हूँ। आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें !

छप्पय

राँध्यो नरको मांस परोस्यो नृपति पुरोहित।
देखि अमेध्य पदार्थ भये गुरुवर अति कोपित॥
दयो शाप पुरुषाद बने भूपति अति कोप्यो।
देवे गुरुकूँ शाप चल्यो मदयन्ती रोक्यो॥
शाप नीर पैरनि धरयो, भये भूप कल्माष पग।
नर भक्षी नृप मित्रसह, भये ख्यात सौदास जग॥

सौदाससुत अश्मक

(६४६)

तत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः।
वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् ॥
सा वै सप्त समा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत।
जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ६ अ० ३८,३६ श्लोक)

छप्पय

बोले नृप सौदास—प्रभो ! अब रक्षा कीजै।
चलै जासु मनु वंश पुत्र इक गुरुवर कीजै ॥
कीयो गर्भाधान भई अति हर्षित रानी।
नष्ट वंश नहिं होय बात जिह सबने जानी ॥
सात वरष तक उदरतें, नहीं पुत्र पैदा भयो ॥
मदयन्ती अति दुखित ह्वै, वचन पुरोहिततें कह्यो ॥

दोष भावना से होता है, भाव शुद्धि होने पर शुद्ध भावना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! ब्राह्मणों के शाप के अनन्तर महाराज सौदास ने स्त्री सुख का परित्याग कर दिया। इस प्रकार अपने ही किये कर्म द्वारा सन्तान हीन हो गये। राजा की अनुमति से वशिष्ठ जी ने गर्भ स्थापित किया। उस गर्भ को रानी सात वर्षों तक धारण करे रही। किन्तु बच्चा नहीं हुआ। तदनन्तर वशिष्ठ ने पाषाण के आघात द्वारा बच्चे को पैदा किया। इसलिये उनका नाम अश्मक हुआ।"

से काम किया जाय वह शुद्ध ही है। पुराणों में एक कथा आती है कि कोई बड़े शुद्ध कामजित् विप्र थे। कोई धर्मात्मा पुरुष उनका विश्वास करके अपनी पतिव्रता पत्नी को उनके यहाँ छोड़ गये। उन्होंने कहा, यह मेरे समीप ही शयन करेगी। पति ने उन पर विश्वास किया और उन ब्राह्मण के समीप अपनी युवती पत्नी को छोड़ कर चले गये। वह उनके समीप शयन करती। कभी कभी उसके अंगों का स्पर्श भी हो जाता, किन्तु वे इसी प्रकार समझते जैसे मेरी अबोध लड़की हो। प्राचीन काल मे अश्वमेधादि यज्ञों में पशुहिंसा होती थी। पति के अयोग्य होने पर देवर से आपत्ति काल में संतति उत्पन्न करा लेते थे। क्षत्रियों के नाश के अनन्तर वेदज्ञ विशुद्ध ब्राह्मणों ने गर्भाधान किया क्षत्रिय वंश की परम्परा पुनः स्थापित की। उस समय उनके मन में काम वासना नहीं होती थी। केवल सन्तानोत्पत्ति की भावना से वे अपने अमोघवीर्य को स्थापित करते थे, फिर उनसे कोई सम्बन्ध नहीं। मुनियों ने देखा कि कलियुग में लोग इसका दुरुपयोग करेंगे। काम से प्रेरित हो कर इसे धर्म बतावेंगे। इसीलिये कलियुग में अश्वमेध, गौमेध आदि बलि प्रदान यज्ञ, सन्यास, देवर से सन्तानोत्पत्ति आदि कार्य वर्जित बताये गये हैं। किन्तु प्राचीन काल में ऐसी प्रथा थी, कि वंशलोप का अवसर आने पर पति विशुद्ध ब्राह्मणोंद्वारा अपनी परम्परा को बनाये रखने के लिये, अपनी पत्नी में सन्तानोत्पत्ति कर लेते थे।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! महाराज सौदास १२ वर्ष तक शापवश राक्षसी भाव में बने रहे। १२ वर्ष के पश्चात् उनके शाप का अन्त हो गया। ब्राह्मणों ने संस्कार करा के उन्हें पुनः राजगद्दी पर बिठाया। अब तक पतिव्रता मदयन्ती

मन्त्रियों की सहायता से राज्य की रेख-देख करती थी। अब जब उनके पति विशुद्ध बन गये, तब उन्हें परम हर्ष हुआ। जब वे ॠतु स्नान करके निवृत्ति हुई तब महाराज ने सन्तान की इच्छा से वैदिक विधि पूर्वक उनके गर्भाधान करना चाहा। उस समय पतिव्रता मदयन्ती बड़े स्नेह भरे स्वर मे राजा से बोली–"प्राणनाथ। आप को स्मरण न होगा। आप जब राक्षस भावापन्न थे, तब आपने एक गर्भाधान कराती हुई ब्राह्मण पत्नी के पति को बल पूर्वक उससे पृथक् करके भक्षण कर लिया था। उसने आप को शाप दिया था कि जब तुम गर्भाधान सस्कार करने को उद्यत होगे, तभी तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।" सो प्राणनाथ। आप उस पतिव्रता के शाप को स्मरण कीजिये। इस समय आप गर्भाधान करेंगे, तो मेरा भी मनोरथ पूर्ण न होगा। आप गर्भाधान भी न कर सकेंगे। यदि आप का कुछ हुआ, तो मै एक क्षण भी आप के बिना जीवित न रह सकूँगी इस लिये आप गर्भाधान का विचार छोड़ दें।"

राजा ने कहा—"प्रिये। तुम सत्य कहती हो। यदि मेरी मृत्यु हो गई, तो यह इक्ष्वाकुवंश सदा के लिये विलुप्त हो जायगा। उस पतिव्रता का शाप अन्यथा तो हो नही सकता। इसलिये आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा। स्त्री सुख से सदा पृथक् रहूँगा, किन्तु फिर वंश परम्परा कैसे चलेगी।"

महारानी ने कहा—"हमारे कुल देव भगवान् वशिष्ठ ही है। आप उनकी शरण में जायें, वे जो करेंगे वह धर्मानुकूल ही करेंगे।"

यह सुन कर राजा महर्षि वशिष्ठ के समीप गये और बोले–"ब्रह्मन्! मेरा वंश विच्छेद न हो, ऐसा कोई उपाय करें।

हमारे कुल के रक्षक पालक सब आप ही हैं। आप धर्मपूर्वक मेरी पतिव्रता पत्नी में गर्भाधान संस्कार करें।"

राजा की प्रार्थना सुनकर और कुलपरम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के निमित्त कुलपुरोहित ने इसे स्वीकार किया तथा रानी में विधिवत् गर्भाधान संस्कार किया। महारानी गर्भवती हो गईं। उनका गर्भ दिन दिन बढ़ने लगा। दश महीने हो गये। प्रसव का कोई लक्षण नहीं। एक साल हुआ दो साल हो गये। रानी बड़ी घबड़ाईं। उन्होंने वशिष्ठ जी को बुला कर पूँछा—"भगवन्! गर्भस्थ बालक बाहर नहीं होता। क्या कारण है?"

वशिष्ठजी ने कहा—"समय पर सब हो जायगा, तुम चिन्ता क्यों करती हो तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं?"

मदयन्ती ने कहा—"अजी महाराज! कष्ट तो कुछ नहीं, किन्तु पुत्र का मुख दिखाई न देना यही सबसे बड़ा कष्ट है।"

वशिष्ठ जी ने कहा—"अच्छी बात है और प्रतीक्षा करो। यह सुन कर रानी चुप हो गईं। वर्ष पर वर्ष बीतने लगे। सात वर्ष हो गये, प्रसव के कोई लक्षण नहीं। प्रजनन वायु का संचार नहीं प्रसव सम्बन्धी वेदना नहीं। तब तो ऊब कर रानी ने वशिष्ठ जी से कहा—"महाराज यह पेट में क्या ईंट पत्थर रख दिया। बच्चा पैदा ही नहीं होता। देखिये तो अब यह जीवन भर पेट में ही बैठा रहेगा क्या?"

अब वशिष्ठ जी क्या कहते। उन्होंने एक गोल चिकना पत्थर लेकर मन्त्र पढ़ कर शनैः शनैः उससे रानी के उदरपर आघात किया। उस पाषाण के लगते ही मन्त्र के प्रभाव से बच्चा प्रजनन स्थान पर आ गया और उत्पन्न हो गया। राजा रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। सर्वत्र मङ्गल गान होने लगे राज्य भर

मे आनन्द मनाया गया। अश्मक (पत्थर) से आघात करने के कारण उनकी उत्पत्ति हुई अतः मुनि ने उसका नाम अश्मक रखा।

कुमार अश्मक अपने पिता के समान ही सुन्दर और गुणी थे। शनैः शनैः वे बड़े हुए। युवा होने पर महाराज सौदास ने उनका विवाह कर दिया। अन्त में उन्हें राज पाट सौंप कर वे महारानी मदयन्ती के साथ वन में चले गये और वहाँ तपस्या करके स्वर्गगामी हुए।

श्री शुक कहते हैं—"राजन्! पिता के बन चले जाने के अनन्तर अश्मक धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। इनके एक पुत्र हुआ जो क्षत्रिय कुल का मूल होने से मूलक कहलाया।"

इस पर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"क्षत्रिय कुल के मूल तो महाराज मनु हैं, ये अश्मक पुत्र मूलक क्षत्रिय कुल के मूलक क्यों कहाये। हमारी इस शङ्का का समाधान कीजिये।"

श्री शुक बोले—"अच्छी बात है सुनिये राजन्! मैं इसका कारण बताता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

भगवन्! का भरि दयो उदरमहँ जो नहिँ निकसत।
अटक्यो एकहि ठौर तनिक तहँ तें नहिँ खिसकत॥
मुनि हँसि लियो अश्म मन्त्र पढ़ि उदर छुवायो।
मदयन्ती ने तुरत सुघर सुत श्रम बिनु जायो॥
प्रमुदित सबही जन भये, राजा रानी पुरोहित।
तेई अश्मक नामतें, भये भूप जग महँ विदित॥

राक्षस भावापन्न महाराज कल्माषपाद

(१४७)

यस्मान्मे भक्षितः पापकामार्तायाः पतिस्त्वया ।
तवापि मृत्युराधानादकृतप्रज्ञ दर्शितः ॥*॥

(श्री भा० ६ स्क० ६ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

मुनि वशिष्ठ को शाप नृपति राक्षस बिन बिचरें ।
द्विज दम्पति वन माँहि सुघर संतति हित विहरें ॥
लगी बुभुक्षा भूप पकरि द्विज खायौ जबहीं ।
द्विज पत्नी अकुलाय शाप नृप दीन्हों तबही ॥
गर्भाधान करौ जबहि, तबहिँ होइगी मृत्यु तब ।
वंश नाशको शाप सुनि, भये दुखित अति सचिव सब ॥

भावही भवका कारण है। मनुष्य जैसे भाव से भावित हो जाता है वैसे ही कार्य करने लगता है। शुद्ध भाव होने से

* राक्षसभावापन्न राजा को शाप देती हुई ब्राह्मणी कह रही है—"हे पापी ! तूने अतृप्ता कामार्ता मुझ स्त्री के पति को भक्षण कर लिया है। अतः हे मन्दमते ! तेरी भी मृत्यु गर्भाधान करने के अवसर पर हो हो जायगी।"

स्वभावतः शुद्ध कार्य होते है और अशुद्ध भाव होने से अशुद्ध कार्य होते है। सात्विक भावों का जब प्राबल्य होता है तब सात्विक कार्य होते है, तमोगुण की प्रबलता में तामसी कार्य इसीलिये मुनियों ने भाव शुद्धि पर अत्यधिक बल दिया है। अन्य शरीरों में अन्य जाति के प्राणियों का आवेश हो जाता है। मनुष्य के शरीर मे भूत, प्रेत, पिशाच, बैताल, ब्रह्मराक्षस आदि घुस जाते है, तब उसका शरीर तो वैसा ही रहता है, चेष्टा सब उन आवेश वाले प्राणियों की सी हो जाती है। जिसने जीवन में कभी सुरापान न किया हो, यदि उसके शरीर में कोई सुरापी जीव घुस जाता है, तो वह यथेष्ट सुरापान कर लेता है। उस समय वह जो कार्य करता है, स्वयं नहीं करता। उसके शरीर मे जिसका आवेश होता है, वही सब करता है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! वसिष्ठजी के शाप से महाराज सौदास के शरीर में राक्षस घुस गया। अब वे सभी चेष्टायें राक्षसों की सी करने लगे। जगलों में घूमने लगे। जहाँ भी किसी पुरुष को देखते, वही उसे पकड़कर खाजाते। एक दिन राजा राक्षसभावापन्न होकर भूखे इधर-उधर आहार की खोज में रात्रि के समय घूम रहे थे उसी समय उन्होंने देखा एक ऋषि अपनी पत्नी में गर्भाधान संस्कार कर रहे है। संतति की कामना से द्विज पत्नी अपने पति के साथ सहवास कर रही है। महाराज की ऐसी चेष्टा देखकर द्विज पत्नी डर गई। राजा ने बल पूर्वक जाकर मुनि को पकड़ लिया। अभी तक मुनि पत्नी का मनोरथ पूर्ण नही हुआ था, उस समय में राक्षस के प्रहार करने से पत्नी पति दोनो को मर्मान्तक क्लेश हुआ। राजाने बल पूर्वक पति पत्नी को एक दूसरे से पृथक कर दिया और उनमें से पुरुष को पकड़ लिया स्त्री को, छोड़ दिया। राक्षस भी सहसा स्त्री पर

आक्रमण नही करते। स्त्री सदा अवध्या बताई गई है। किन्तु जिसका आधा अग काट लिया हो, वह जीवित रहना भी चाहे तो उसके जीवन से लाभ ही क्या ?

द्विज पत्नी ने दीनता के साथ कहा—"राजेन्द्र ! आप यह कैसा व्यवहार कर रहे है। महाराज यह कार्य आपकी पदप्रतिष्ठा के अनुरूप नही। हे प्रजानाथ ! आप राक्षस नही है। आप तो मनुवंश में उत्पन्न हुए, इक्ष्वाकुवंश भूषण हैं। राजन् ! मैं सन्तान की कामना से अपने पति के साथ समागम कर रही थी। मेरा मनोरथ अभी पूर्ण नही हुआ। कृपा करके आप मेरे पति को मुझे लौटा दें। ऐसा अधर्म न करें।"

राजा ने कहा—"पेट भरने पर धर्माचरण सूझता है। भूखा पुरुष धर्म कर्म सब भूल जाता है।"

द्विज पत्नी ने कहा—"महाराज ! ये तो राक्षसी विचार हैं, धर्मात्मा पुरुष तो प्राणों का पण लगा कर भी धर्म की रक्षा करते है। महाराज ! नर हत्या करना सबसे बड़ा पाप है। मनुष्य शरीर बार-बार नहीं मिलता। जिसे जिलाने की सामर्थ्य नहीं, उसे किसी को मारने का भी अधिकार नहीं। फिर महाराज ! वेदज्ञ ब्राह्मण की हत्या तो महापाप है। आप तो राजा हैं। जैसे जल का पिता अग्नि है वैसे ही क्षत्रिय का पिता ब्राह्मण है। क्या सत्पुत्र अपने पिता की हत्या कर सकता है ?"

द्विज पत्नी ने कहा—"राक्षसों का यह धर्म भले हो, किन्तु हे क्षत्रियर्षभ ! आप तो राक्षस नहीं है। आप तो महाराज सर्वकाम के पुत्र महारानी मदयन्ती के पति और अयोध्या के स्वामी

पुण्यश्लोक राजर्षि सौदास हैं। आपके द्वारा यह क्रूर कर्म कभी भी न होना चाहिये। आपका साधु समाज में सर्वत्र सम्मान है। आप तो दीनों पर सदा दया करते रहते हैं, फिर गौ और ब्राह्मणों के तो आप भक्त हैं। ये वेदवादी धर्मज्ञ श्रोतिय ब्राह्मण हैं। आप इन्हें क्यों खा जाना चाहते हैं ? यदि आपने इन्हें खाने का निश्चय कर लिया है, तो पहिले मुझे खा लीजिये। इनके विना मैं एक क्षण भी जीवित नही रह सकती।"

श्री शुकदेवजी कहते है-"राजन् ! इस प्रकार वह विप्र पत्नी विविध भाँति से विलाप करती रही, अनेक प्रकार से राजा को समझाती रही, किन्तु महाराज सौदास तो शाप से विमोहित थे, उन्होने ब्राह्मणी की एक बात भी न सुनी। वे उसके पति को खा गये। यह देखकर मुनिपत्नी को बड़ा दु:ख हुआ। उसने राजा को शाप देते हुए क्रोध में भरकर कहा-'अरे पापी ! अरे क्रूर ! तूने मुझ अबला पर तनिक भी दया न की। मैं संतान की इच्छा से पति का सहवास कर रही थी, तूने बलात् मेरे पति से मुझे पृथक् कर दिया। मेरी इच्छा पूरी न होने दी, अत: मैं तुझे शाप देती हूँ, कि तू भी जब स्त्री समागम करेगा, तब तेरी भी इसी प्रकार मृत्यु हो जायगी, तू सन्तानोत्पत्ति करने में कभी समर्थ न हो सकेगा।"

महाराज तो शाप विमोहित थे, उन्होने ब्राह्मणी के शाप पर कुछ भी ध्यान नही दिया। वे ब्राह्मण को खा कर चले गये। वह पति परायण विप्र पत्नी अपने पति की अस्थियों को लेकर चिता चुनकर सती हो गई। वह परलोक में जाकर अपने पति के साथ मिल गई। इस प्रकार राक्षस भावापन्न राजा को मुनि पत्नी का अनपत्य होने का शाप हुआ था।

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! क्या राजा सौदास जो भी ब्राह्मण मिला उसे ही खा जाते थे, तब वे अपनी रानी पुरजन परिजनों से कैसे मिलते थे ?"

सूतजी ने कहा—"नही, महाराज ! दिनके छटे भाग में जो उनके सामने पड़ जाता, उसे ही खाते थे। अन्य समय में किसी को नही सताते थे। राक्षस होने पर भी उनकी ब्राह्मण भक्ति न्यून नही हुई थी। आहार के लिये तो ब्राह्मणों को खा जाते थे, क्योंकि ब्राह्मण के शाप से ही वे नर भक्षी हुए थे। शेप समय मे सबसे शिष्टता से मिलते, कोई कुछ मांगता उसे देते। प्रात: वे जंगल मे रहते थे। जब वे भोजन कर चुकते, तब रानी तथा अन्य सचिव पुरोहित उनसे मिलने अरण्य में आते। राक्षस होने पर भी इन्होंने महर्षि उत्तङ्क को दान दिया और उन्हें मित्रतापूर्ण उपदेश दिया ?"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! महामुनि उत्तङ्क ने महाराज सौदास से क्या याचना की थी और राजाने उन्हें क्या उपदेश दिया था, कृपा करके इस चरित्र को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"मुनियो ? मुनिवर उतङ्क महर्षि गौतम के शिष्य थे, जब ये विद्या समाप्त कर चुके, तो इन्होंने गुरु से गुरु दक्षिणा देने का आग्रह किया।"

महर्षि गौतम ने कहा—"भैया ? तुमने इतनी लगन से हमारी सेवा सुश्रूषा की है, यही गुरुदक्षिणा पर्याप्त है, मैं तुमसे वैसे ही प्रसन्न हूँ तुम्हारा मगल हो, तुम जाओ।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"नही, भगवान् ? कुछ तो आज्ञा मिले ही।"

गौतम मुनि बोले—"अच्छी बात है, यदि तुम्हारा ऐसा ही आग्रह है, तो मुझे तो कुछ इच्छा है नही, अपनी गुरु माता के पास जाओ, वह जो वस्तु लाने को कहे, वह उसे लाकर दे दो"

यह सुनकर उत्तङ्क अपनी गुरु माता अहल्या के निकट गये और बोले—"माता जी! अब मै विद्या समाप्त करके जा रहा हूँ, मैं कुछ गुरु दक्षिणा देना चाहता हूँ, गुरु जी ने मुझे आपके पास भेजा है, आपकी जो भी इच्छा हो, उसे मै पूर्ण करूँ।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कह रहे है—"ऋषियो! स्त्रियों से कोई मन की बात पूछे, तो वे कोई न कोई आभूपण की ही इच्छा करेंगी। विवाह में-त्योहार पर्व में-जायँगी, तो सबसे पहिले उनकी दृष्टि आभूपणों पर ही पड़ेगी, किसके कर्णफूल सुन्दर हैं, किसका हार चमकीला है, किसका कौन सा आभूपण कैसा है, किसकी अँगूठी में कैसा नग है, जो वस्तु उनके मन पर चढ़ जायगी, उसे बार-बार देखेंगी उसका मूल्य, मिलने का पता पूछेगी और अवसर पड़ने पर उसके लिये पति से आग्रह करेंगी। चाहे आभूपण पेटी में ही बन्द रहें कभी भी न पहिने, किन्तु आग्रह अवश्य करेंगी। गौतम पत्नी अहल्या कभी यज्ञ में अपने पति के साथ अयोध्या गई होंगी। वहाँ महलों मे उन्होंने कभी सौदास की पतिव्रता पत्नी मदयन्ती को दिव्य कुण्डल पहिने देखा होगा। वे कुंडल उसके मन पर चढ़ गये होगे। पति से तो कैसे कहती। जब शिष्य ने आकर पूछा—"तब बड़े स्नेह से बोली —"बेटा? यदि तुम मेरी इच्छा पूरी करना चाहते हो, तो मेरी एक इच्छा है,उसे यदि पूरी कर सको तो मैं परम प्रसन्न होऊँगी।"

उत्तङ्क मुनि बोले—'माताजी। आप अपनी इच्छा मुझे बताइये। असम्भव बात भी होगी, तो भी मैं उसे पूर्ण करूँगा।

अहल्या बोली—"देखो, भैया ! राजा सौदास की पतिव्रता पत्नी महाराज मदयन्ती है,उनके कानों में दिव्य कुण्डल है। रात्रि मे उन कुंडलों से सुवर्ण झरता है आकाश के समस्त नक्षत्र और तारों की प्रभा उनकी प्रभा के सम्मुख फीकी पड़ जाती है, उन्हे पहिनने पर भूख प्यास कभी नहीं सताती। तो उन्हे धारण करते है, विष,अग्नि तथा अन्यान्य भयप्रद जन्तुओं और वस्तुओं से कोई भय नहीं। यदि बालक उन्हें पहिने तो छोटे हो जाते है बड़ा पहिने तो बड़े हो जाते है। यदि तुम किसी प्रकार सौदास पत्नी के उन कुडलो को ला सको तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

उत्तङ्क ने कहा—"माताजी ! मैं जैसे भी होगा, तैसे सौदास पत्नी महारानी मदयन्ती के दिव्य कुंडलों को आपके लिये लाऊँगा।' यह कह कर मुनि उत्तंक महाराज के समीप चल दिये।

महाराज सौदास जङ्गल में रहते थे,दिन के छटे भाग मे जो पुरुष उन्हे मिल जाता, उसे ही वे खा जाते, संयोग की बात कि महामुनि उत्तक दिन के छठे भाग में ही जाकर महारास सौदास से मिले उनका विकृति मुख और लाल लाल दाढ़ी मूँछों को देखकर सेवा के प्रभाव से मुनि तनिक भी न घबराये वे राजा के पास जाकर बोले—"राजन् ? मैं स्नातक हूँ आपसे कुछ याचना करने आया हूँ।"

राजा ने कहा--"धन्यवाद ब्रह्मन् ! आप आये दिन के छटे भाग में जो मेरे सम्मुख आता है, वह मेरा आहार बन जाता है। अब मैं आपको खाकर अपनी भूख शान्त करूँगा।"

उत्तंक मुनि ने कहा--"राजन् ? देखिये स्त्री को, दूत को और

गुरुदक्षिणा के लिये जो प्रयत्न कर रहा हो, इन्हें अवध्य बताया है। अत. आप मुझे मार कर खाने का विचार छोड़ दें।"

राजा सौदास बोले—"ब्रह्मन् ! मैं तो राक्षस हूँ। दिन का छठा भाग बीत चुका, मुझे भूख लग रही है आप दे रहे हैं धर्म की सीख। यह उसी प्रकार की शिक्षा है जैसे प्रज्वलित अग्नि को घृत डालकर शान्त करना। द्विजवर? अबतो मैं आपको बिना खाये छोड नहीं सकता।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"ब्रह्मन् ! मुझे मरने से तो भय है नही, किन्तु मुझे गुरुदक्षिणा की चिन्ता है। यदि आपने मुझे खाने का ही दृढ़ संकल्प कर लिया है, तो पहिले मुझे मेरी मनमानी वस्तु दे दीजिये। उसे देकर तथा गुरु ऋण से उऋण होकर मै पुन: आपके समीप आ जाऊँगा, तब आप मुझे खालें।"

राजा सौदास बोले—"अजी, महाराज ? मैं कोई बच्चा तो हूँ नही, जो आप मुझे फुसला लें। राक्षस के मुख से निकल कर फिर कौन प्राण गवाँने आता है।"

उत्तङ्क मुनि ने उत्तेजित होकर कहा—"राजन् ! आप मुझे झूठा समझते है ? मैं अवश्य आऊँगा।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, मांगिये, क्या आपको माँगना है। यदि वह वस्तु मेरे अधीन हुई तो उसके मिलने में आप तनिक भी सन्देह न करें।"

उत्तङ्क मुनि ने कहा—"मुझे अपनी गुरुपत्नी को देने के लिये आपकी पतिव्रता पत्नी के कानों के दिव्य कुण्डल चाहिये।"

राजा ने कहा—"वह तो मेरी रानी के पास है, उससे जाकर आप माँगे।"

उत्तंक मुनि बोले—"राजन् ! पति और पत्नी दो थोड़े ही होते है पत्नी का अपना तो कुछ भी नहीं। वह तो अपना शरीर वस्त्र, आभूषण यहां तक कि कुछ गोत्र भी पति को अर्पण कर देती है। इसलिये आप की आज्ञा के बिना रानी मुझे कैसे दे सकती है।"

राजा बोले—"ब्रह्मन् ! आप सत्य कहते हैं पतिव्रतायें अपनी निज की कुछ वस्तु समझती ही नहीं, वे अपना सर्वस्व पति को ही समर्पित कर देती है, मेरी पत्नी पतिव्रता है। वह दिन के छटे के अनन्तर इस वन मे मेरे दर्शनों के लिये आती हैं, अतः आप जायँ, अमुक निर्झरिणी के किनारे आप की उससे भेंट होगी।"

यह सुन कर उत्तंक मुनि राजा की बताई निर्झरिणी के समीप गये। वहा पतिव्रता मदयन्ती उपस्थित थी। उत्तंक मुनि ने रानी को आशीर्वाद देकर कुंडलों की याचना की और राजा की भी आज्ञा सुना दी।"

यह सुन कर रानी ब्राह्मण को प्रणाम करके कहा—"ब्रह्मन्! आप योग्य पात्र है, मुझे भी कुण्डलों के देने में कोई आपत्ति नही, किन्तु मुझे यह विश्वास कैसे हो, कि राजा ने मुझे देने की आज्ञा दी है। आप उनकी कोई चिन्हानी लावें तो मैं दे दूं।"

मुनि पुनः लौट कर सौदास के पास गये और बोले—"राजन् कोई चिन्हानी रानी चाहती है।"

राजा ने कहा—"यह राक्षस योनि रूप गति मुझे कल्याण-दायिनी नही है मेरे इस अभिप्राय को समझ कर इन्हें कुण्डल दे देना।"

मुनि ने रानी से जाकर ज्यों ही यह बात कही त्यों ही रानी ने अपने कानों में से दिव्यकुंडल उतार कर मुनि को दे दिये और कह दिया—"ब्रह्मन् ! ऐसे दिव्य कुण्डल तीनों लोकों में भी कहीं नहीं है। इन्हें आप पृथिवी पर भूल कर भी न रखना नहीं तो कोई नाग, देव, दानव इन्हें तुरन्त उठा ले जायगा।"

रानी की यह बात सुन कर उसे आशीर्वाद देकर मृग चर्म में कुंडलों को लपेट कर मुनि उत्तंक चल दिये। वे एक बार राजा के पास मित्र भाव से फिर आये और बोले—"राजन् ! आप का कल्याण हो, आप ने जो रानी को संकेत वचन कहा था, उसका अभिप्राय क्या है ?"

राजा बोले—"ब्रह्मन् ! जीवन भर मैंने ब्राह्मणों की सेवा की इसका फल यह हुआ, कि मुझे राक्षसी योनि प्राप्त हुई। फिर भी जैसे अबोध बालक को माँ के अतिरिक्त कोई गति नहीं, वैसे ही ब्राह्मणों के अतिरिक्त मेरी भी कोई गति नहीं। इसीलिये मैंने आप को राक्षस भाव में भी मुहमांगा दान दिया। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। अब तुम्हें देखना है कि तुम कुंडल देकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करते हो या नहीं। लौट कर मेरा आहार बनते हो या नहीं।"

यह सुन कर उत्तंग मुनि बोले—"राजन् ! मैं आप से मित्र भाव से एक प्रश्न पूछता हूँ, उसका उत्तर आप मैत्री धर्म समझ कर दें। क्योंकि सज्जन पुरुष जिससे वार्तालाप कर लेते हैं, वे उनके मित्र बन जाते हैं। अतः आप मेरे मित्र हुए। राक्षस भाव से नहीं मित्रभाव से आप मेरी बात का उत्तर दें।"

राजा ने कहा—"अच्छी बात है, पूछिये ! मैं मित्रभाव से ही यथार्थ उत्तर दूंगा।"

उत्तङ्कमुनि ने कहा—"मै यह पूछता हूं, कि मैंने जो आप से लौटकर आने की प्रतिज्ञा की है अब मुझे लौटकर आप के पास आना चाहिए या नहीं ?"

यह सुनकर राक्षसी भाव में भावित महाराज सौदास अपने विकराल और भयंकर मुख को फाडकर खिल खिला कर हँस पडे और हँसते-हँसते बोले—"ब्रह्मन् ! आपने तो मुझे बांध लिया अच्छी बात है, मैत्री भाव से मैं आपको आपका कर्तव्य बताता हूँ। अब आपको कदापि मेरे पास लौटकर नहीं आना चाहिये। क्योंकि आप लौटकर आवेंगे,तो मैं निश्चय ही आपको खा जाऊँगा। अतः आपका कार्य हो गया। सुख पूर्वक जाइये आनन्द कीजिये। कामी और राक्षसो के सामने की हुई प्रतिज्ञा का कोई महत्व नही।"

राजा की यह युक्तियुक्त बात सुनकर कुंडल लेकर उत्तङ्क मुनि अपनी गुरु माता अहल्या के समीप गये। मार्ग में उन्हें बडे-बडे विघ्न हुए। गुरुमाता को कुंडल देकर उनके आशीर्वाद लेकर और गुरु से अनुमति पाकर गुरु की कन्या के साथ विवाह करके उत्तङ्क मुनि सुख पूर्वक रहने लगे।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! इस प्रकार राक्षस भाव में रहने पर भी महाराज सौदास ने दान देना, ब्राह्मणों का स्वागत सत्कार करना, तथा मित्रों के साथ द्रोह न करना ये विशुद्ध गुण नही छोड़े थे। प्रारब्ध वश उन्हे राक्षसी योनि की भयंकर यातनायें सहनी पड़ी १२ वर्ष के पश्चात् उनका राक्षसी भाव दूर हो गया। फिर वे ज्यों के त्यों परम यशस्वी धर्मात्मा राजा बन गये महर्षि वसिष्ठ पुनः उनसे यज्ञादि कर्म कराने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब राजा को अनपत्य होने

का शाप हो गया, तो उनका आगे का वंश कैसे चला, इसे कृपा कर हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो ! अब मैं आप को सौदास अश्मक का वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप इसे श्रद्धा सहित सुनें।"

(छप्पय)

बीते बारह बरस शाप उद्धार भयो जब।
करिबे गर्भाधान भये उद्यत भूपति तब॥
बरजे रानी नृपति शापकी याद दिलाई।
महिषी सतति बिना बहुत रोई घबराई॥
वंशनाशको भय समुझि, लख्यो न अन्य उपाय जब।
गुरु वशिष्ठतें विनय करि, भूप प्रार्थना करी तब॥

मूलक से आगे के सूर्यवंशी भूपति

(६४८)

अश्मकान्मूलको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः।
नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ६ अ० ४० श्लोक)

छप्पय

अश्मक के सुत भये राघकुलके जो मूलक।
तबई प्रकटे परशुराम क्षत्रियकुल शूलक॥
नारिनि कवच बनाइ बचाये मनुकुल त्राता।
नारीकवच कहाय भये जगमहँ विख्याता॥
मूलक सुत दशरथ भये, एडविडहू सुत तासुके।
पुत्र एडविड विश्वसह, खड्वाङ्गहु नृप जासु के॥

अपने कुल की रक्षा के लिये, धनहीन कभी गृहस्थी के पालन के लिये विवश होकर कुछ अनुचित भी कार्य किया जाय, तो वह क्षम्य ही समझा जाता है। धर्म की बड़ी सूक्ष्म गति है कहीं अधर्मसा दिखाई देने वाला धर्म हो जाता है, कहीं धर्मसा

---

* श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! अश्मक का पुत्र मूलक हुआ जिसकी स्त्रियों ने रक्षा की। इसीलिये उसका नाम नारी कवच भी हुआ पृथिवी पर क्षत्रिय न रहने के अनन्तर वह क्षत्रियकुल का मूल पुरुष हुआ।"

दिखाई देने वाला कार्य अधर्म माना जाता है। जो सर्वज्ञ हैं वे ही धर्म के मर्म को भली भाँति जान सकते है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज अश्मक के पुत्र मनुकुल के मूलक क्यों हुए इस प्रसङ्ग को मैं आपको सुनाता हूँ। महाराज अश्मक ने बहुत दिनों तक पृथिवी का पालन किया। बहुत से यज्ञ याग किये और अन्त में अपने पुत्र मूलक को राज-पाट सौंपकर वन में तपस्या करने चले गये।

जिन दिनों महाराज मूलक पृथिवी का राज्य करते थे,उन्हीं दिनों जमदग्नि के सुत भगवान् के अंशावतार श्रीपरशुरामजी का प्राकट्य हुआ। उनके पिता को हैहय कुल के क्षत्रियों ने मार डाला था, अतः महर्षि परशुराम ने हाथ मे फरसा लेकर प्रतिज्ञा की थी कि मैं 'पृथिवी पर एक भी क्षत्रिय को न छोड़ूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके उन्होने क्षत्रिय कुल का संहार करना आरम्भ कर दिया। जहाँ भी बूढ़े, बच्चे, युवक क्षत्रिय को देखते वहीं वे उसका संहार कर देते। इस प्रकार क्षत्रियो का संहार करते करते वे अयोध्या पुरी में भी आये।

महाराज मूलक ने जब सुना कि क्षत्रिय कुल नाशक महर्षि परशुराम आरहे है, तो उन्होंने सोचा—"वे तो भगवान् के अंशावतार है, उनसे मैं युद्ध में तो किसी प्रकार जीत नहीं सकता अतः वे महल में जाकर रानियों में छिप गये। रानियो ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और चूड़ियाँ पहिना दीं। महाराज परशुराम जी आये उन्होंने चारो ओर राजा को खोजा, राजा का कहीं पता ही न लगा। अन्तःपुर में उन्होने देखा तो सब रानी ही रानी बैठी है, स्त्रियाँ तो सदा अवध्या बताई है, अतः महर्षि देख भाल कर लौट आये। उन्होंने समझा राजा भाग गया।

मुनि के चले जाने पर राजा बहुत दिनों तक स्त्रियों में ही छिपे रहे। परशुराम जी ने २१ बार सम्पूर्ण पृथिवी पर घूम-घूम कर क्षत्रियो का नाश किया। जब सब क्षत्रिय कुलों का उन्होने नाश कर दिया तो वे युद्ध से उपरत हो गये। उन्होने अस्त्र शस्त्रों को छोड़ कर तपस्या मे चित्त लगाया।

उस समय समस्त क्षत्रिय कुल का संहार हो चुका था अश्मक पुत्र महाराज मूलक ही मनु वंश में शेष रहे थे। इसीलिए वे इस कुल के मूल होने से मूलक कहलाये। स्त्रियों ने कवच बना कर इनकी रक्षा की,इसलिये इनका नाम नारी कवच भी पड़ा।

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा—"ब्रह्मन्! परशुरामजी ने ऐसा क्रूर कर्म क्यों किया? क्यों उन्होंने क्षत्रिय कुल का विनाश किया।"

इस पर श्री शुक बोले—"राजन्! इन सब बातों का उत्तर आगे मैं परशुराम चरित्र में दूँगा। आगे मैं विस्तार के साथ परशुराम जी की कथा सुनाऊँगा। इस समय तो आप इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं की कथा सुनें।"

महाराज परीक्षित ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्? आप मनु वंश के महाराज मूलक से आगे के राजाओं का चरित्र सुनावें। मूलक के पुत्र कौन हुए?"

श्री शुक बोले—"राजन्? मूलक के पुत्र महाराज दशरथ हुए (ये प्रथम दशरथ हैं) जिनके यहाँ अवधकुल मंडन जानकी जीवन धन श्री साकेत विहारी श्रीहरि अवतरित हुए। वे दशरथ दूसरे हैं। महाराज दशरथ के पुत्र ऐडविड हुए उनके पुत्र विश्वसह नाम से विख्यात हुए। इन विश्वसह के पुत्र पुण्यश्लोक राजर्षि खट्वाङ्ग हुए।" जिन्होंने देवासुर संग्राम में देवताओं का पक्ष लेकर दैत्यों को हराया था।"

बात यह थी, कि दैत्यों ने देवताओं पर चढ़ाई कर दी। देवता बहुत दिनों तक लड़ते रहे किन्तु वे दैत्यों को पराजित न कर सके। जब वे सब प्रकार से थक गये, तब वे पृथिवी पर आये। उन दिनों महाराज खटवाङ्ग इस सम्पूर्ण भूमंडल का शासन करते थे। वे पराक्रम में इन्द्र के समान थे। देवताओं ने प्रार्थना की-"राजन्! आप हमारी ओर से चलकर असुरों से युद्ध करें।' देवतओं की प्रार्थना से महाराज अपने दिव्य रथ पर चढ़ कर स्वर्ग गये और उन्होंने युद्ध में असुरों का संहार किया। देवताओं की विजय हुई।"

विजय के अनन्तर देवताओं ने कहा-"राजन्! आपने बड़ा श्रम किया, आप मुक्ति को छोड़ कर हमसे और जो भी चाहें वरदान माँग लें, क्यों कि मुक्ति के दाता तो मधुसूदन ही है।"

राजा ने कहा-"देवताओ! मैं सर्वप्रथम यह जानना चाहता हूँ, कि मेरी अब आयु कितनी और शेष है?"

देवताओ ने कहा-"अजी, राजन्! आयु की क्या पूछते है, आपकी आयु तो अब केवल मुहूर्त भर और शेष है।"

यह सुन शीघ्रता के साथ राजा बोले-"तो अब रहने दीजिये मुझे कुछ भी वर न चाहिये अब तो मैं इस एक मुहूर्त का सदुपयोग करना चाहता हूँ. इस एक मुहूर्त में ही मन माधव के पाद पद्मों में लगाकर परम गति प्राप्त करना चाहता हूँ। मुझे मेरे नगर मे ब्राह्मणों के बीच में जाने दीजिये। यद्यपि आप सब सत्व प्रधान है, किन्तु स्वर्ग के दिव्य विषय भोगों में आसक्त होने के कारण अपने अन्तः करण में स्थित परम प्रिय सनातन आत्मा श्री हरि को नही जान पाते।"

ऐसा कह कर महाराज तुरन्त स्वर्ग से अवनि पर आये, मन को श्रीहरि के चरणों में लगाकर उन्होंने मर्मान्तिक वाणी में यह

बात कही थी—"मेरे कुलदेव ये विप्रवृन्द ही हैं, ये ही मेरे गुरु ज्ञानदाता, भयत्राता और सत्शिक्षा देने वाले है, इनसे बढ़ कर न मुझे राज्य प्यारा है न पत्नी, पुत्र, परिजन तथा अपने प्राण ही। मैं ब्राह्मणों की शरण हूँ उन्हीं के अनुग्रह से अच्युत के चरणों में मेरी अहैतुकी भक्ति उत्पन्न हो सकती है। मैंने जब से सुधि सम्हाली है, तब से जगत् में भगवान् को छोड़ कर अन्य किसी को नहीं निहारा। सर्वत्र उनको ही देखा है। मेरा मन कभी अधर्म में प्रवृत्त नहीं हुआ। मैंने सदा श्री हरि का ही सहारा लिया है।

मुझसे देवताओं ने आग्रह पूर्वक कहा था, आप जो भी चाहें वह दुर्लभ से दुर्लभ वर माँग लें, इच्छित भोगों की याचना करलें किन्तु मैंने उनसे कुछ भी याचना नहीं की। करता भी क्यों? इन क्षयिष्णु भोगों की प्राप्ति में लाभ ही क्या है। मन तथा ये समस्त इन्द्रियाँ अत्यन्त चञ्चल है। भोगों से इनकी कभी तृप्ति नहीं होती। अत: मैं इन भोगों की अब इच्छा न करूँगा। मैं माया जाल में न फसूँगा। मैं गन्धर्व-नगर तुल्य इन विषयों के चाकचिक्य मे प्रभावित न हूँगा। मैं त्याग का आश्रय लेकर जगत्कर्ता जगदीश की भावना से मन को उन्हीं में लगाऊँगा। उन्ही के शरण मे जाऊँगा।

श्री महाराज परीक्षित ने कहा—"भगवन्! एक मुहूर्त में ही महाराज खट्वाङ्ग ने परम पद कैसे प्राप्त कर लिया। इस विषय मे मुझे बड़ा सन्देह है?"

अत्यन्त आवेश के साथ श्री शुक ने कहा—"राजन्! इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है, मैंने तो आपसे आरम्भ में कहा था कि महाराज खटवाङ्ग तो मुहूर्त मात्र में तर गये, तुम्हारी तो अभी सात दिन की अवधि है। अन्त समय क्षणमात्र भी मन

भली भाँति भगवान् में तन्मय हो जाय तो उसका वेड़ा पार ही समझो। जब महाराज को यह दृश्य प्रपञ्च मिथ्या और स्वप्न वत् प्रतीत होने लगा तव देहादि में आत्मबुद्धि रूप अज्ञान को परित्याग करके अपने आप में ही स्थित हो गये। अर्थात् वे भगवान् वासुदेवमय हो गये जो सत्य स्वरूप परब्रह्म और अति-सूक्ष्म तथा अति स्थूल है जो इस सम्पूर्ण ससार में सर्वत्र व्याप्त हैं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब महाराज खडवाङ्ग परम पद को प्राप्त हुए तो उनके पुत्र महाराज दीर्घबाहु राजा हुए। इन दीर्घबाहु का ही दूसरा नाम दिलीप है, इन दिलीप ही के पुत्र राजर्षि रघु हुए। ये इतने प्रतापी हुए कि इक्ष्वाकु वंश इनके अनन्तर रघुवशी कहलाने लगे।"

इस पर महाराज परीक्षित ने कहा—"भगवन् ! मुझे महाराज रघु और उनके वश के मुख्य मुख्य राजाओं का चरित्र सुनाइये।"

यह सुनकर आँखों में आँसू भरकर श्रीशुक बोले—"राजन् ! अब मैं तुम्हें रघुवंश चरित्र सुनाता हूँ। आप श्रद्धा से सुने।"

छप्पय

जानी एक मुहूर्त आयु सब जग बिसरायो।
करिकें ध्यान अखण्ड परम पद नृप ने पायो॥
तिनके पुत्र दिलीप यशस्वी दीर्घबाहु वर।
सन्तति विनु अति दुखित गये निबसें जहँ गुरुवर॥
महिषी संग सुदक्षिणा, लिये जाय गुरु पद गहे।
आशिष दै निज शिष्यतें, वचन मुदित मन गुरु कहे॥

महाराज रघु के वंश की कथा

(६४६)

खट्वाङ्गाद्दीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात्पृथुश्रवाः ।
अजस्ततो महाराजस्तस्माद्दशरथोऽभवत् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १० अ०, १ श्लोक)

छप्पय

गौ सेवा तें पुत्र होहिं यह मैंने जानी।
करि सादर स्वीकार नन्दिनी सेवा ठानी॥
कृपा नन्दिनी करी भये रघु विकुल भूषन।
रघु के अज सुत भये तनिक जियमहँ नहिं दूषन॥
अज अति अनुपम नृप भये, इन्दु मती ने जो वरे।
एक छत्र जग महँ नृपति, अगणित मख जितने करे॥

कितने वंश इस पृथिवी पर होते हैं, कितने नष्ट हो जाते हैं, किन्तु वह कुल प्रशंसनीय पूजनीय और वन्दनीय हैं जिसमें पुराण पुरुष ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर मानवीय क्रीड़ायें की हैं।

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! खटवाङ्ग के पुत्र दीर्घबाहु (दिलीप) हुए उन महायशस्वी के रघु, उनके अज और अजके पुत्र महाराज दशरथ हुए।"

जिस कुल के पुरुषों को उन्होंने पिता पितामह प्रपितामह, पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्र आदि कहा है। प्रभु के कौन पिता पितामह, वे तो चराचर जगत् के पिता है, सबके जनक है, किन्तु वे सम्बन्ध स्थापित न करें तो संसार में सरसता कैसे आवे। संसार का अस्तित्व न मानकर एक निर्गुण निराकार ध्यान यह देहवाला प्राणी कैसे कर सकता है। देहधारी देहधारी से ही प्रेम करेगा। प्रेम प्रायः एक योनिवालों में ही होता है, सम्बन्ध प्रायः सव जाति में ही होता है। जब तक भगवान् से सम्बन्ध न होगा—ब्रह्म सम्बन्ध संस्कार की दीक्षा न ली जायगी—तब तक भक्ति का प्राकट्य कैसे हो सकता है। सम्बन्ध तभी संभव है, जब सर्वेश्वर सर्वात्मा हमारे बीच में अवतरित हों। भगवान् का अवतार उसी कुल में होगा, जिसकी वंश परम्परा विशुद्ध हो, जिस वंश के लोग धर्म रक्षा के लिये सदा प्राण देने को उद्यत रहते हों, ऐसा विशुद्ध वंश सूर्यवंश ही है। जो पुण्य श्लोक परम प्रतापी महाराजाधिराज श्री रघु के उत्पन्न होने से रघुवंश कहाया जिसके कारण हमारे जानकी जीवन धन रघुवर, रघुनाथ रघुनन्दन, राघव, रघुकुलतिलक, रघुकुलकेतु, राघवेन्दु आदि कहलाये।

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! पुण्य श्लोक राजर्षि खट्वांग के पुत्र परम यशस्वी दीर्घबाहु हुए जिनका दूसरा नाम दिलीप भी था। महाराज दिलीप का विवाह मगधनन्दिनी सुदक्षिणा देवी के साथ हुआ सुदक्षिणा को पाकर राजा उसी प्रकार प्रमुदित हुए जैसे छोटे यज्ञ में भूरि दक्षिणा पाकर ब्राह्मण प्रमुदित होते हैं। महारानी सुदक्षिणा जितनी ही सुन्दरी सुकुमारी थीं उतनी ही साध्वी तथा सरल हृदय थीं। वे अपने पति को प्राणों से भी अधिक

प्यार करतीं। अपने अनुकूल पति प्राणपत्नी को पाकर पृथिवी पति दिलीप परम प्रसन्न थे। वे सप्तद्वीपा वसुमति के स्वामी थे, उनके राज्य मे समय से वर्षा होती थी, ब्राह्मण सब विधिपूर्वक अग्नि में हवन करते थे। चारों वर्ण के लोग स्वधर्म पालन में निरत थे। गौएं यथेष्ट दूध देती थीं, स्त्रियाँ अपने पतियों से प्रेम करती थी। कोई भूल कर मन से भी पर पुरुष का चिन्तन नही करती थी। पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करते, शिष्य आचार्य की शिक्षा शिरोधार्य करते। असमय में किसी की मृत्यु नही होती थी, विधवाओं के दर्शन भी दुर्लभ थे। राजा के सभी सेवक चतुर और स्वामिभक्त थे। उनके सचिव सदा राज्य का कल्याण चाहते थे, महाराज का कोप अटूट था, उनका कोई शत्रु नही था, सभी ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी, इतना सब होने पर भी महाराज सुखी नहीं थे। उनके कोई सन्तान नही थी। अब आगे मनुवंश कैसे चलेगा। इक्ष्वाकुकुल का प्रभाव कैसे होगा। यही चिन्ता उन्हे सदा लगी रहती थी। उनकी पत्नी सुदक्षिणा सम्पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त थी, वन्ध्यापने के कोई भी चिन्ह उसमें नहीं थे, फिर भी आज तक उसके कोई सन्तान नही हुई, इसलिये उसका भी कमल मुख सदा म्लान बना रहता था।

पती पत्नी ने परस्पर में एक दूसरे की चिन्ता का अनुभव किया। एक दिन राजा ने कहा—"प्रिये! अभी तक हमारे कोई वंशधर पुत्र उत्पन्न नही हुआ। हम अपने कुल गुरु भगवान् वसिष्ठ के समीप चलकर इसका कारण पूछें और वे जो इसके लिये उपाय बतावें वही करें।

रानी ने राजा की बात का अनुमोदन करते हुए कहा—"प्राण

नाथ ! मैं भी बहुत दिनों से यही सोच रही थी, किन्तु सङ्कोच-वश कुछ कह न सकी।"

अपनी पत्नी की भी इच्छा समझ कर महाराज ने तुरन्त अपना रथ मगाया और वे रानी के सहित रथ में बैठ कर चलने लगे। उनके चलते ही आगे पीछे रक्षा के लिये विशाल सेना चली राजा ने कहा—"मेरे साथ सेना की आज कोई आवश्यकता नहीं। आज मैं अपने गुरुदेव के आश्रम पर जा रहा हूँ। वहाँ मैं अकेले ही जाऊँगा।"

राजा की आज्ञा पाकर सेवक लौट गये। रानी के साथ हंसते खेलते, उन्हें भाँति-भाँति के वृक्ष, फल, फूलों को दिखाते उनका परिचय कराते हुए राजा वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर पहुँचे। रथ की घरघराहट सुन कर छोटे-छोटे मुनि कुमारो ने दौड़ कर रथ को घेर लिया। कोई उछलने लगे, कोई कूकने लगे। मयूर मेघ की गड़-गड़ाहट समझ कर चिल्लाने लगे। आश्रम के मृग चकित दृष्टि से निहारने लगे, वृक्षों पर बैठे पंछी कलरव करने लगे। राजा ने प्रथम उतर कर रानी को उतारा और वे आश्रम की उटजों को निहारते हुए यज्ञ के धूएं को लक्ष करके जा रहे थे, उनके पीछे अपने वस्त्रों को सम्हालती, घूँघट में से एक आँख से निहारती हुई सुदक्षिणा उसी प्रकार चल रही थीं जिस प्रकार सायंकाल मे पुरुष के पीछे पीछे छाया चलती है।

गुरु अग्निहोत्र करके अपने शिष्यों से घिरे यज्ञ वेदी के समीप एक सघन वृक्ष की छाया में बैठे थे। राजा ने अपने बड़े बड़े विशाल हाथों की कोमल गद्दियों से जिनमें धनुष की ठेक पड़ी हुई थी उनसे—मुनि के पैर पकड़े और अपने चमचमाते हुए मणिमय मुकुट की प्रभा को उनके नख की ज्योति में मिला

दिया। भगवान् वशिष्ठ ने उठ कर महाराज दिलीप का आलिङ्गन किया, उनका सिर सूंघा और कुशल पूछी। तब राजा ने भगवती अरुन्धती के चरण छुए। तदनन्तर लजाते हुए रानी ने मुनि के चरणों में प्रणाम किया और वे देवी अरुंधती की वन्दना करके उनके समीप बैठ गईं।

कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ ने पहिले तो राजा के राज्य, कोप, मन्त्री पुरोहित तथा प्रजा की कुशल पूछी तदनन्तर राजा के आगमन का कारण जानना चाहा।

राजा ने अपनी कुशल बता कर मुनि के तप, आश्रम, मृग, पक्षी, अग्नि वृक्ष तथा पौधों की कुशल पूँछकर अपने आने का यथार्थ कारण बताया।

मुनि ने सब सुन कर कुछ देर ध्यान किया और बोले— "राजन्! मैं तुम्हें पुत्र नहीं दे सकता। हाँ, यदि मेरी अग्निहोत्र को गौ-नन्दिनी चाहे तो पुत्र दे सकती है।" राजा यह सुन कर उदास हुए। इतने में ही नन्दिनी वन से चर कर लौटी राजा ने उठ कर नन्दिनी को प्रणाम किया और वह अपने बच्चे के पास दौड़ कर चली गई।"

मुनि ने कहा—"राजन्! आप धेनु व्रत करें। निरन्तर धेनु का ही अनुगमन करें, उसी की इच्छा में अपनी इच्छा सम्मिलित कर दें उसी की चर्या में अपनी चर्या मिला दें, तो वह तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण कर सकती है।"

गुरु आज्ञा स्वीकार करके राजा ने रानी सहित नन्दिनी की सेवा आरम्भ कर दी। वे प्रातः काल दुही जाने पर गौ को लेकर अरण्य में जाते। उसके मार्ग में बाधा न देते। जिधर वह जाती

उधर ही उसके पीछे-पीछे वे जाते। जहाँ खड़ी हो जाती, खड़े हो जाते। बैठ जाती तो स्वयं भी बैठकर उसे खुजाने लगते। हरी-हरी कोमल दूब उसे उखाड़-उखाड़ कर खिलाते। जब वह चर कर सायंकाल को आश्रम को लौटती तो उसके साथ-साथ लौट आते। वे एक वस्त्र से उसके मक्खी मच्छरों को उड़ाते रहते।

एक दिन नन्दिनी चरती हुई एक गहरी गुफा में चली गई वहाँ एक सिंह ने उसे पकड़ लिया। राजा ने धनुष पर बाण चलाया, किन्तु सब व्यर्थ। राजा का हाथ स्तम्भित हो गया। सिंह ने हँसते हुए राजा को मानवीय भाषा में अपना परिचय दिया कि मैं गौरीजी का मानसपुत्र हूँ, उनके वृक्ष की रक्षा के लिये यहाँ नियुक्त हूँ, जो यहाँ आ जाता है मेरा आहार हो जाता है, अब मैं इस गौ को छोड़ूँगा नहीं।" राजा ने सिंह की बहुत अनुनय विनय की, किन्तु वह माना नहीं। तब राजा ने कहा—"अच्छी बात है, तुम गौ को छोड़ दो, मुझे खा लो।" सिंह ने इस बात को स्वीकार किया। महाराज ज्यों ही सिंह के सम्मुख लेटे त्यों ही नन्दिनी हँस पड़ी। वहाँ न सिंह था न गुफा। नन्दिनी सुख से अरण्य में खड़ी थी। राजा को जब आश्चर्य चकित देखा, तब नन्दिनी बोली—"राजन्! आज आप शापमुक्त हुए। एक बार आप स्वर्ग से अपनी राजधानी को आ रहे थे। मेरी माँ कामधेनु कल्पवृक्ष के नीचे बैठी जुगार कर रही थी, तुम्हें अपनी पत्नी के ऋतुकाल की चिन्ता थी। सुदक्षिणा का ऋतुस्नान व्यर्थ न हो यही आप सोचते जाते थे। मेरी माँ को आपने न तो प्रदक्षिणा की न उन्हें प्रणाम किया। इसीलिये उन्होने तुम्हें शाप दिया था, कि जब तक मेरे वंश की सेवा न करोगे तब तक तुम्हारे कोई सन्तान न होगी

तुमने प्राणों का पण लगाकर मेरी रक्षा की। अतः अब मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ, तुम्हारे विश्वविजयी धर्मात्मा तीनों लोकों में विख्यात कुल की कीर्ति को बढ़ाने वाला बलवान् पुत्र उत्पन्न हो।"

नन्दिनी को ऐसा आशीर्वाद पाकर प्रजानाथ परम प्रमुदित हुए। जब वे नन्दिनी को लेकर लौटकर गुरु आश्रम में आये। गुरु उनकी आकृति से ही समझ गये। कार्य पूरा हो गया। राजा-रानी परम प्रसन्न हुए। उन्होंने विधिवत् हवन करके समस्त आश्रम वासियों का भण्डारा किया और गुरु से आज्ञा लेकर गुरु,अग्नि,अरुन्धती तथा नन्दिनी को प्रणाम करके वे अपनी राजधानी में लौट आये। समय पर सुदक्षिणा गर्भवती हुई और दशवें महीने में उन्होने एक पुत्र रत्न का प्रसव किया, जिसका गुरु वसिष्ठ ने रघु ऐसा नाम रखा आगे चलकर इन्ही महाराज के नाम से इक्ष्वाकुवंश रघुवंश के नाम से विख्यात हुआ।

महाराज दिलीप ने बड़े-बड़े यज्ञ किये। सभी प्रकार के दान दिये, गुरुजनों का सम्मान किया। अन्त में राजभार महाराज रघु को सौंप कर वन के लिये चले गये।

महाराज रघु ने अपने गुणों से समस्त प्रजा को उसी प्रकार अपने प्रेमपाश में बांध लिया जैसे पति अपनी पत्नी को अत्यन्त सत्कार और प्रेम के द्वार अपने अधीन कर लेता है, उसके हृदय पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है। महाराज रघु इतने परोपकारी थे, कि परोपकारव्रती साधु भी उनके सम्मुख लज्जित हो जाते। वे इतने बड़े विद्वान् थे, कि वेदवादि विप्रगण भी उनसे गूढ़ विषयों में परामर्श करने आते। वे इतने सुन्दर थे, कि कामदेव भी उनके सम्मुख संकोच वश मुँह

न दिखाते। वे इतने यशस्वी थे, कि उनके यश के सम्मुख समस्त रंग फीके पड़ गये। तीनों भुवन इनकी यश की शुभ्रता से शुभ्र हो गये। वे इतने तेजस्वी थे, कि सूर्यदेव उनके महल के मार्ग को बचाकर ही खिसक जाते। उनकी दृष्टि को बचा कर ही अस्ताचल की ओर चल जाते। वे इतने धर्मात्मा थे कि बड़े बड़े धर्म प्राण मुनि भी उनकी धर्म निष्ठा के सम्मुख नत मस्तक हो जाते। वे इतने उदार थे, कि कुबेर भी उनसे भयभीत हो जाते, वे इतने यज्ञप्रिय थे, कि हवि-खाते खाते अग्नि को भी अजीर्ण हो गया। अश्विनी कुमारों की सम्पूर्ण पाचन की औषधियाँ समाप्त प्राय: हो गईं। वे इतने दानी थे, कि अपना सर्वस्व दान करके भी उन्हें सन्तोष नहीं होता। तभी तो आज रघुवंश संसार में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। उनके दान के सम्बन्ध की पुराणों में एक बड़ी प्रसिद्ध कथा है।

जिन दिनों महाराज रघु अयोध्या पुरी में राज्य करते थे, उन्हीं दिनों वरतन्तु नामक महर्षि अरण्य में रहकर यज्ञयागादि पुण्य कर्म किया करते थे। महर्षि के समीप बहुत से शिष्य अध्ययन करने आया करते थे। उन्हीं शिष्यों में से एक कौत्स नामक शिष्य थे। कौत्स मुनि बड़े ही सदाचारी गुरुभक्त तथा शील सम्पन्न थे। उनकी गुरु सेवा से महर्षि वरतन्तु अत्यन्त ही सन्तुष्ट थे। जब वे अपनी विद्या समाप्त कर चुके तब उन्होंने गुरु से गुरु दक्षिणा के लिए प्रार्थना की।

गुरु ने कहा—"भैया, तैने हमारी मन लगा कर सेवा की है, यही तेरी गुरु दक्षिणा पर्याप्त है तू एक गौ देकर नियमानुसार विवाह करके गृहस्थी हो जा और गुरु दक्षिणा की आवश्यकता नहीं।"

कौत्स ने कहा—"नहीं, गुरुदेव ! ऐसे कैसे हो सकता है। मैं तो आप की कोई श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सेवा करना चाहता हूँ। मैंने आप से १४ विद्याये पढ़ी है अतः मुझे कोई उत्तम गुरु दक्षिणा देनी चाहिये। आप आज्ञा करें।"

गुरु ने कहा—"भैया ! सेवा से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं। धन आदि तो अत्यन्त तुच्छ और नश्वर पदार्थ हैं। गुरु-दक्षिणा का अर्थ यही है, कि विद्यादाता गुरु संतुष्ट होकर हृदय से आशीर्वाद-दे, कि विद्या फलवती हो। सो, मैं तुम्हारी सेवा से ही सन्तुष्ट होकर तुम्हें आशीर्वाद दे रहा हूँ।"

कौत्स को संतोप नहीं हुआ। उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा—"नहीं गुरुदेव ! आप मुझे कोई सेवा अवश्य वतावें।"

अब तो गुरु को क्रोध आ गया वे बोले—"अच्छी बात है। तुम ने मुझ से १४ विद्यायें पढ़ी हैं। अतः १४ करोड़ सुवर्ण मुद्रायें लाकर मुझे दो।"

गुरु की ऐसी आज्ञा सुनकर कौत्स ने उनके पादपद्मों में प्रणाम किया और वे धन की खोज मे चल दिये।

सूतजी कहते है--"मुनियो ! जिन दिनों की मैं बात कह रहा हूँ, उन दिनो गुरु के निमित्त दक्षिणा देने वाले स्नातक ब्रह्मचारी और कन्या को दान देने वाले पिता जहाँ भी जिससे याचना करते जाते वहाँ से विमुख नहीं लौटते थे। सभी लोग शक्ति भर उनका सम्मान करते थे। कौत्स मुनिने देखा १४ करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ मुझे अयोध्याधिपति महाराज रघु के अतिरिक्त कोई राजा नहीं दे सकता। यही सोचकर वे अयोध्या की ओर चले।"

उन्हीं दिनों महाराज रघु ने विश्वजित नाम का यज्ञ किया था। उसमें उन्होंने अपना सर्वस्व दानकर दिया था। यहाँ तक कि अपने वस्त्र आभूषण, धातुओं के पात्र भी ब्राह्मणों को दे दिये थे। अब वे मिट्टी के पात्रों में ही खाते थे। भूमि पर सोते थे। जब कौत्स मुनि गये तब राजा ने मिट्टी के पात्र से उनके पैर धोये और कुशासन पर बिठाकर सत्कार किया।

राजा ने बड़े आदर से कहा—"ब्रह्मन् ! आप कहाँ से पधारे?"

कौत्स बोले—"राजन् ! मैं भगवान् वरतन्तु के आश्रम से आ रहा हूँ, उन्हीं का मैं शिष्य हूँ।"

अत्यन्त ही आह्लाद के साथ राजा ने कहा—"ब्रह्मन् ! मेरा अहोभाग्य ! धन्यवाद ! धन्यवाद ? जो आपने मेरे ऊपर कृपा की। भगवान् वरतन्तु मेरे ऊपर बड़ी कृपा रखते हैं। कहिये, आश्रम में सब कुशल है न ? आपके आसपास निन्नी के चावल श्रेष्ठ होते हैं न ? मुनियों को वह अन्न बड़ा मीठा होता है। बिना जोते बोये वे चावल आपसे आप उत्पन्न होते हैं, हल बैलों से पृथिवी जोती नहीं जाती, जल के समीप यह मुनि अन्न स्वतः होता है। जिन मुनियों के पुत्र नहीं होते,वे वृक्षों का पालन पुत्रों के समान करते हैं। मैंने भगवान् वरतन्तु का आश्रम देखा था उन्होंने थालें बना बनाकर बहुत से वृक्ष लगाये थे। अब तो वे बड़े हो गये होंगे ? उन पर फल भी आने लगे होंगे। मुनियों के आश्रम में मृग स्वच्छन्द विहार करते हैं। आपके मृगों को कोई बाधा तो नहीं देता। आपके आश्रम में बड़े बड़े सघन वृक्ष हैं न ? जिनके नीचे पथिक बैठकर अपना श्रम दूर कर सकें। आपके आश्रम में जल की कमी तो नहीं ? गंगाजी की धारा दूर तो नहीं चली गई ? लतायें यथेष्ट फूल देती है न ? अतिथियों

का भली भाँति सत्कार तो होता है ? अन्न की याचना करने वाले कोई विमुख क्यों लौटते होंगे, जब भगवान् बरतन्तु यहाँ उपस्थित हैं। कहिये, भगवान् ने मेरे लिये कोई आदेश तो नहीं दिया है। आप उनका सन्देश लेकर आये हैं, या वैसे ही मुझे कृतार्थ करने चले आये हैं ? यदि आप मुझे दर्शन ही देने आये हैं, तब तो कोई बात नहीं। यदि आप किसी प्रयोजन से आये हों, तब आप उसे मुझे बताइये।"

कौत्स बोले—"राजन् ! मुझे मेरे गुरुदेव ने आप के पास नहीं भेजा है। मैं स्वयं ही आया हूँ। अब मैंने विद्या समाप्त करली है, अब मैं स्नातक बनकर गृहस्थी होना चाहता हूँ।"

राजा ने उल्लास के साथ कहा—"हाँ ब्रह्मन् ! अब तो आपकी गृहस्थी बनने की अवस्था ही है। जिस आश्रम से प्राणि मात्र का उपकार होता है, उस गृहस्थाश्रम को जब आप जैसे योग्य विद्वान् ही न स्वीकार करेंगे, तब तो यह आश्रम विषय वासना का क्रीड़ास्थल ही बन जायगा। गुरु ने आप को आज्ञा दे दी यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। मैं आप का कौन सा प्रिय कार्य करूँ ?"

कुछ सकुचाते हुए कौत्स बोले—"राजन् ! मुझे गुरु दक्षिणा देनी थी। मैं कुछ द्रव्य की इच्छा से आप के समीप आया था। किन्तु दुर्भाग्य से मैं पीछे पहुंचा आप तो अब अपना सर्वस्व दान कर चुके। स्वय ही आप मिट्टी के पात्रों का प्रयोग कर रहे हैं। फिर सुवर्ण कहाँ से देंगे। अब मैं किसी दूसरे धनी का द्वार खट-खटाऊँगा। दूसरे से याचना करूँगा। यह कह कर कौत्स उठ खड़े हुए।"

यह देखकर राजा ने मुनि का मार्ग रोकते हुए कहा—"ब्रह्मन्! ऐसा न होगा, रघु के द्वार से कोई निराश नहीं लौट

सकता। रघु के सम्मुख याचना करने वालों को फिर अन्यके यहां याचना करने की आवश्यकता नहीं।"

कौत्स ने आश्चर्य के साथ कहा—"राजन्! आप इतना द्रव्य कहाँ से देंगे?"

राजाने कहा—"जहाँ से भी शीघ्र मिल सकेगा वहीं से दूँगा।"

कौत्सने कहा—"शीघ्र तो कुबेर के भंडार से इतना सुवर्ण मिल सकता है।"

राजा बोले—"अच्छी बात है, कुबेर पर ही चढ़ाई करूँगा। आप एक दिन विश्राम तो करें।"

राजा के आग्रह को मुनि टाल न सके। वे अग्नि होत्रशाला में चतुर्थ अग्नि के समान पूजित होकर सुख पूर्वक रहे। राजा ने कुबेर पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। धन कुबेर रघु के यश पराक्रम से पहिले से ही शंकित थे। जब उन्होंने उनके संकल्पको जाना, तब तो वे डर गये। चुपके से रात्रि में वे उनके कोष को सुवर्ण से भर गये। प्रातःकाल ज्यों ही उन्होंने अपना रथ तैयार किया, त्यों ही सचिवों ने सूचना दी, कि सुवर्ण से सम्पूर्ण कोष भरा पड़ा है। राजा यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"समस्त सुवर्ण को ऊँटों पर, छकड़ों में लदवाकर मुनि के साथ भिजवा दो।"

कौत्स उस अटूट सुवर्ण की राशि को देखकर डर गये और आग्रह पूर्वक बोले—"राजन्! मैं इतने धन को कभी न लूँगा। इतना सुवर्ण लेकर मैं क्या करूँगा, मुझे तो १४ करोड़ सुवर्ण-मुद्रायें ही चाहिए।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन ! यह तो आप के ही निमित्त है, इस में से मैं धेला भर भी अन्य किसी काम में व्यय न करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इसका नाम है उदारता। रघु जैसे दाता धन्य है जो याचक की याचना से असंख्यों गुना धन देने का आग्रह करते है और कौत्स जैसे संतोषी ब्राह्मण धन्य हैं जो आवश्यकता से अधिक लेना ही नहीं चाहते।"

धन लेकर कौत्स मुनि ने राजा को आशीर्वाद दिया, कि आप के लोकपितामह ब्रह्मा के समान पुत्र हों।"

मुनि का हार्दिक आशीर्वाद तुरन्त सफल हुआ दसवें महीने में रघु की रानी ने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया, जिसका नाम अज रखा गया।"

कुमार अज बड़े ही सुन्दर थे। ऐसा लगता था मानों सौन्दर्य, स्वयं साकार होकर रघु के यहाँ उत्पन्न हुए है। कुमार अज जब बड़े हुए तब विदर्भ देश के राजा भोज की बहिन इन्दुमती के स्वयम्बर में गये। तब सभी राजकुमार उसी प्रकार निराश हो गये। जिस प्रकार धनी को किसी मनोनुकूल वस्तु को क्रय करते देखकर दूसरे साधारण ग्राहक निराश हो जाते हैं। स्वयम्बर की, सभा में जब वरको खोजती खोजती इन्दुमती इनके सम्मुख आई, तो वह इनके सम्मुख उसी प्रकार अड़कर खड़ी हो गई, जैसे चकोरी चन्द्रमा के सामने अड़ जाती हैं, भ्रमरी आम के मौर से जाना नही चाहती, मछली अगाध जल से निकलना नहीं चाहती। जैसे कृपण धन को नही छोड़ना चाहता, जैसे कथा वाचक की दृष्टि चढ़ावे पर लगी रहती हैं, वैसे ही उसकी दृष्टि अज के रूप में लग गई। उसके आग्रह को देखकर उपस्थित राजाओं में से एक अज को छोड़कर सभी को दुःख हुआ। सभी ने उसे पगली

समझा। उसके निर्णय को निन्दित माना किन्तु अज के सम्मुख वे कुछ कह न सके। अज और इन्दुमती उसी प्रकार मिल गये जैसे हिमालय के घर शिवपार्वती मिल गये थे।

दूर्वा के धागे में महुए के पुष्पों की गुथी माला के साथ अपना हृदय भी इन्दुमती ने अज को अर्पित किया। अज के वक्षस्थल में पड़ी वह जयमाल उसी प्रकार हिल रही थी, जिस प्रकार नववर का हृदय प्रथम मिलन में हिलता है। उस समय लजाती हुई इन्दुमती के साथ जाते हुये कुमार उसी प्रकार शोभित होते थे मानो लज्जा के साथ कामदेव कहीं जा रहा हो। इन्दुमती इतनी सुन्दर थी कि अज ने अपना सर्वस्व उन्हें अर्पित कर दिया था। उसके सौंदर्य को देखकर सुर सुन्दरियाँ भी सकुचा जाती थीं। वह अपने पति को इतना प्यार करती थी, कि उनके बिना एक क्षण भी उसे असह्य हो उठता।

जब अज ने आकर इन्दुमती के सहित अपने पिता को प्रणाम किया, तो इन्दुमती को महाराज ने पुत्रवती होने का वर दिया और मुँह दिखाई में अपना सम्पूर्ण राज पाट और कोष उसे दे दिया। इस प्रकार मानों अपनी पुत्रवधू को ही पृथिवी देकर रघु तपस्या करने वन में चले गये।

इन्दुमती ने कहा—"भरण करने से पति का नाम भर्ता भी है। आप जैसे मेरा भरण पोषण करते हैं। वैसे ही मेरी सखी इस पृथिवी का भी पालन कीजिये। मेरा अपना तो कुछ है ही नहीं। मेरे तो एकमात्र धन आप ही हैं।"

अज ने कहा—"प्रिये! मुझे पृथिवी पालने में कोई रस नहीं

ससारी सुखों में किसी प्रकार का अनुराग नहीं। मुझे तो एक मात्र तुम ही प्यारी हो पृथिवी का पालन मैं तुम्हारी ही प्रसन्नता के निमित्त कर सकता हूँ। तुम्हारी प्रसन्नता के लिये सब कुछ करने को तत्पर हूँ। इस प्रकार इन्दुमती को सिंहासन पर साथ बिठा कर ही महाराज समस्त राज काज करते। वे उसे लेकर वनों में, उपवनों में, उपत्यकाओं तथा पर्वत कन्दराओं में घूमते। भाँति-भाँति से उसका मनोरञ्जन करते।

जब वह अपने शरीर को शिथिल करके सिर को अज की गोद में रख कर प्रेम से नेत्र बन्द कर लेती तब अज आत्मविस्मृत हो जाते, उन्हें तीनों लोकों के सुख तुच्छ दिखाई देते। इन्दुमती के अग से सौंदर्य फूट-फूट कर निकलता रहता। उसकी स्वांस को सूँघ कर महाराज मदोन्मत्त से हो जाते। उसके कमल मुख को निहार कर सौदर्य को भी तुच्छ समझते। कालान्तर में पिता का अशीर्वाद सफल हुआ। इन्दुमती गर्भवती हो गई, अब तो महाराज निरन्तर उसके मन को ही जोहते रहते। मेरी प्रिया को किस वस्तु से प्रसन्नता होगी, क्या करने से उसे सुख होगा। अब वह चलने में भी लड़खड़ाने लगी, मुख पर पीलिमा छा गई। उदर और स्तनों के भार से उसे उठने में भी कष्ट होने लगा। दसवें महीने में उसने एक पुत्र को जन्म दिया। जिसका गुरु वशिष्ठ ने "दशरथ" नाम रखा। इन्हीं दशरथ को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री राघवेन्द्र के पिता होने का देवदुर्लभ पद प्राप्त हुआ।

दशरथ के उत्पन्न होते ही अज, इन्दुमती तथा समस्त प्रजा के लोगों को परम प्रसन्नता हुई। यद्यपि रानी राजा का प्रेम पुत्र में बँट गया था, फिर भी अज और इन्दुमती के प्रेम में किसी प्रकार

का अन्तर नहीं पड़ा। यही नहीं वह उसी प्रकार और भी अधिक बढ गया, जिस प्रकार विदेश मे गये पति के लौटने पर पतिप्राणा का प्रेम और भी अधिक बढ़ जाता है। महाराज रात्रि दिन इन्दुमती को ही सोचते रहते थे। एक दिन वे अपनी प्रिया के साथ उपवनों में विहार कर रहे थे वे एक सुन्दर रमणीक स्थान मे सुख पूर्वक बैठकर अपनी प्रिया के साथ मधु से भी मधुर स्नेह से सिक्त आनन्द में पगी, अनुराग में भीगी, सरसता में सनी बातें कर रहे थे, कि उसी समय रामकृष्ण गुण गाते, संसारी जीवों को सुख का पाठ पढ़ाते, अपनी स्वर ब्रह्म विभूषिता वीणा को बजाते देवर्षि नारद वहाँ जा पहुँचे। उनकी वीणा के ऊपर कल्प वृक्ष के पुष्पों की माला टँगी हुई थी। राजा ने उठकर मुनि के पैर छूए, रानी ने मुनि की चरण वन्दना की। सहसा वीणाकी माला इन्दुमती के कमल से भी कोमल वदन से छू गई, ज्यों ही उसने दृष्टि उठा कर उस माला को देखा त्यों ही वह प्राणहीन होकर धड़ाम से पृथिवी पर गिर पड़ी, अपनी प्राणप्रिया को ऐसी दशा देख कर महाराज अज भी मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ काल में मूर्छा भङ्ग होने पर उन्होंने अपनी प्राणप्रिया के अङ्ग को प्राणहीनावस्था में देखा, वह ऐसी लगती थी, मानों कमलिनी को किसी ने मसल दिया हो। राजा उसे मृतक देख कर पुनः मूर्छित हो गये और भाँति-भाँति से विलाप करने लगे। उसके मृतक शरीर को गोद में रख कर राजा बच्चों की भाँति फूट फूट कर रोने लगे। सभी सेवक, सचिव, सामन्त तथा सगे सम्बन्धी एकत्रित हो गये। रानी को मृत्यु से सब को बड़ा दुःख हुआ। किन्तु कोई कर ही क्या सकता था। काल के आगे किसकी चलती है। अन्त में सब ने रानी का दाह संस्कार किया। राजा इन्दुमती के वियोग में सदा दुखी बने रहते थे।

यह सुन कर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! पुष्प के छू जाने

से रानी की मृत्यु कैसे हो गई। यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।"

हँसते हुए सूत जी ने कहा—"महाराज ! मृत्यु के लिये क्या आश्चर्य की बात। जब, जिसके द्वारा, जहाँ पर जिसकी जैसे मृत्यु बदी रहती है, तब वहाँ उसी के द्वारा वैसे ही मृत्यु हो जाती है। सबका समय और कारण पहिले ही निश्चित है। सहसा कोई काम नहीं होता। सहसा पत्ता भी नहीं हिलता। कार्य के गर्भ मे काल निहित रहता है। महाराज पूर्वकाल में तृण-विन्दु नामक एक राजर्षि घोर तप कर रहे थे, उनके तप से भयभीत होकर इन्द्र ने उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिये हरिणी नामक अप्सरा को भेजा। वह मुनि के निकट आकर अपने हाव भावो को प्रदर्शित करती हुई मुनि के मन को मोहने का प्रयत्न करने लगी। मुनि उसके दूषित भाव को समझ गये। मुनि ने उसे क्रोध मे भर कर शाप दिया—"दुष्टे ! तू स्वर्गीय अप्सरा होने योग्य नहीं, तू मनुष्य लोक में जाकर मानवी स्त्री बन जा।"

यह सुन कर हरिणी बड़ी घबड़ाई। डरते डरते उसने दोनों हाथों की अजलि बाँध कर मुनि से कहा—"प्रभो ! मैं तो इन्द्र के द्वारा भेजी गई हूँ, मेरा इसमे क्या अपराध ? आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये, मुझे स्वर्ग से भ्रष्ट न कीजिये।"

मुनि ने कहा—"मेरा वचन कभी भी अन्यथा नहीं हो सकता। हाँ, यह बात है, तुम्हारा जन्म मानवी योनि में अवश्य होगा, किन्तु फिर भी तुम्हारा सौंदर्य स्वर्गीय ललनाओं से भी बढ चढ़ कर होगा, जब तुम स्वर्गीय पुष्पों को देख लोगी, तभी पृथिवी छोड़कर स्वर्ग चली जाओगी और फिर तुम अप्सरा हो जाओगी।"

सूतजी कहते है – "मुनियों ! उसी हरिणीने शाप वश विदर्भ वंश मे जन्म लिया, वही महाराज अजकी पत्नी इन्दुमती थी। आज नारद जी की वीणा के ऊपर कल्पवृक्ष के पुष्पो की माला देखते ही वह मानवीय शरीर को त्यागकर स्वर्ग सिधार गई। रानी के मरने से राजा को जीने की तनिक भी इच्छा नही रही। फिर लोकलाज वंश कर्तव्य पालन की दृष्टि से वे जीते रहे। अब वे सदा उदास ही बने रहते थे। दशरथ के मुखको देख-देखकर वे निरन्तर इन्दुमती की स्मृति में रोते रहते। स्वप्न में उसका साक्षात्कार करके बडे प्रसन्न होते। इस प्रकार पिता के सरक्षण मे दशरथ बढ़ने लगे। कुछ काल मे ही बाल्यावस्था त्यागकर चली गई। अब युवावस्था ने उनके शरीर पर अधिकार स्थापित कर लिया पुत्र को युवावस्था में पदार्पण करते देख कर जो राजभार उन्हे यथार्थ में भार प्रतीत हो रहा था, उसे कुमार दशरथ के कोमल कंधोंपर शीघ्रता से डालकर वे सरयू के किनारे किनारे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ जाकर सरयू भगवती भागीरथी मे मिलती हैं। वही रहकर और अनशन व्रत करके महाराज अजने अपने इस पाँचभौतिक शरीर को त्याग दिया।"

पिता के परलोक पधारने के अनंतर महाराज दशरथ समस्त प्रजा का पुत्रवद् पालन करने लगे। उनकी कीर्ति दशों दिशाओं में व्याप्त हो गई। उन्होंने दिग्विजय करके समस्त जीती हुई पृथिवी को पुनः जीत लिया। उन्हे राजा पाकर प्रजा पहिले राजाओं को भूल गई।

सूतजी कहते हैं—' मुनियों ! इन्ही पुण्यश्लोक महाराज दशरथ के यहाँ श्री राम अवतरित हुए। अब आप श्रीराम चरित्र को श्रद्धा भक्ति के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

अजके दशरथ पुत्र यशस्वी अति ई पावन।
जिनके यशतें विमल धवल अब तक यह त्रिभुवन ॥
भूपति परम उदार दान बहु विप्रनि दीन्हे।
भूरि दक्षिणा युक्त विपद मख जिन बहु कीन्हें ॥
देवासुर संग्राम महँ, असुर पराजित जिन करे।
दिव्य अस्त्र आघाततें, अगनित सुर कटक मरे ॥

श्रीराघवेन्दु का प्रादुर्भाव

(६५०)

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः ।
अंशांशेन चतुर्धागात्पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० १० अ०, २ श्लोक)

छप्पय

सब सुख नृपके निकट पुत्र बिनु परि अति चिंतित ।
रानी सब सुत रहित वंशधर बिनु अतिदुःखित ॥
बिनती गुरु तें करी रचायो मख सुतके हित ॥
ऋष्य श्रृङ्ग पुत्रेष्टि यज्ञ करवायो प्रमुदित ॥
बढ्यो भूमि को भार बहु,सुर सब मिलि हरिढिंग गये ।
सेतु करन भव उदधि पै, अज अच्युत प्रकटित भये ॥

यह संसार सागर अगाध है, इसकी थाह नहीं । पार जाने का कोई निश्चित एक मार्ग नही । जीवका पुरुषार्थ स्वल्प है । इसका सर्वज्ञ स्वामी उसपार बैठा बैठा हँस रहा है ।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन महाराज दशरथ के यहाँ देवताओं की प्रार्थनापर साक्षात् ब्रह्ममय श्रीहरि अंशांश से चार रूपों से अवतरित हुए ।"

जीव पार जाना चाहता है, क्योंकि आधी शक्ति उसी पार है यदि इसका स्वामी जीव के पुरुषार्थ से नहीं अपनी ही अहैतुकी कृपा से इस पार आकर जीवों जैसा ही बन जाय। हममें ही घुल मिल जाय और फिर उस पार के लिये सेतुबाँध दे। हमें भी साथ लेकर उत्साह देता रहे, तो उन्हीं की कृपा से हम उस पार जा सकते हैं। भगवान् के अवनि पर अवतरित होने के अन्य हेतु गौण हैं। उनके अवतार का मुख्य प्रयोजन अपनी लीला रूपी सामग्रियों से संसार का सेतु बाँधना है जिससे सर्वसाधारण पुरुष भी सुख सहित उस पार पहुँच जायँ। उनका जन्म कर्म बन्धनों से बँधकर नहीं, वह तो क्रीड़ा के लिये, कृपा के लिये, मर्यादा स्थापना के लिये, लोक संग्रह के लिये संसार के उद्धार के लिये, तथा करुणा मैत्री आदि सद्गुणों के प्रसार के लिये होता है। भगवद्चरित्रों को मानवीय कसौटी पर कस ने वाले के हाथ कुछ भी न लगेगा। उन्हें तो सर्वज्ञ सर्व समर्थ सर्वेश्वर के ही चरित्र मान कर पढ़ना सुनना और मनन करना चाहिये।

जब सूतजी ने श्रीरामचरित्र का नाम लिया तब तो शौनकादि ८८ हजार ऋषियों के शरीर में रोमाञ्च होने लगे और उनके नेत्रों में जल भर आया और गद्‌गद् वाणी से आँसुओं को पोंछते हुए बोले-"सूतजी ! हमने भगवान् वाल्मीक के मुख से श्रीराम चरित्र एक बार नहीं कई बार सुना है। महाभाग! जब श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ किया था और लव तथा कुश ने आकर श्रीराम जी के सम्मुख रामायण का गान किया था, वह भी हमने श्रीराम के साथ बैठ कर सुना था, किन्तु सच्ची बात यह है कि हमारी रामचरित्र से तृप्ति नहीं हुई। भगवान् शुक ने तो महाराज परीक्षित् को श्रीराम चरित्र संक्षेप में सुनाया

होगा। वे ऐसा करने को विवश थे, क्योंकि उन्हें ७ दिनों में ही सब कथा सुनानी थी। सब शास्त्रों का सार सार निकाल कर उन्होंने सबकी बानगी राजा को चखाई और सबका पर्यवसान अन्त में कृष्ण कथा में कर दिया। किन्तु सूतजी ! हमें तो कोई समय का बन्धन नहीं। हमतो दीर्घजीवी हैं। अवतार कथा ही हमारा आहार है। उसे ही खाकर हम जीते हैं। सूर्यवंश के राजाओं की नीरस कथायें हमने चुपचाप इसीलिये सुनली कि इनका सार अन्त में निकलेगा। नही तो सूतजी ! उस राजा को *यह रानी हुई वह राजा उस राजकुमारी पर आसक्त हो गया।* उसने स्वयम्बर में उसे माला पहिना दी, उसने युद्ध में उसे मार दिया। वह अप्सरा इतनी सुन्दर थी। उस मुनिने यह गड़बड़ सड़बड़ कर दी। उस राजा का यह पुत्र हुआ, यह पौत्र हुआ इन व्यर्थ की बातों से हम त्यागी विरागी साधुओं को क्या प्रयोजन? अजी हमतो भगवान् का प्रेम पूर्वक प्रसाद पाते हैं और भगवान् के नाम तथा यश का श्रवण और गायन करते हैं' हमारा तो मूल मन्त्र है।

"भगवद् भजन पेट को धंधो। और करै सो पूरो अंधो।' मनु से लेकर दशरथ तक के राजाओं की कथा हमने इसी आशा से सुनी कि आगे इसी वंश में मर्यादा पालक जन सुखदायक रविकुल नायक भगवान् कौशल किशोर उत्पन्न होंगे। उनके चरित्र को हम श्रद्धा सहित सुनेगे। सो, सूतजी ! राम चरित्र कहने में आप कृपणता न करें। रामचरित्र को हमें विस्तार के साथ सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी के रोम रोम खिल गये। उनका गला भर आया। "राम" इन दो शब्दों में कितनी मिठास है, कितनी

सरलता है, कितनी मोहकता है, कितनी गंभीरता और सरसता है। वे "रा" इतना ही कह सके कि उनका कंठ रुँध गया। नेत्रों से टप टप अश्रु प्रवाहित होने लगे। उन्होंने कठिनता से अपने को सम्हाला और आचमन करके बोले—"मुनियो! आप धन्य है, जो आपकी अवतार चरित्र श्रवण में ऐसी निश्चल निष्ठा है। महाभाग! मेरे गुरुदेव ने रामचरित्र अवश्य ही सक्षेप में कहा है, किन्तु उस संक्षेप में उन्होंने इतना कहा है, कि कहने योग्य सब कुछ कह दिया है। मेरे गुरुदेव जब राम चरित्र कहते है, तो वे इतने तन्मय और स्नेह सिक्त हो जाते हैं, कि अधिक कह नहीं सकते। सब अवतारो से अधिक सरसता उन्होंने राम चरित्र कथन मे प्रदर्शित की है। मैं तो उनके केवल एक शब्द की व्याख्या ही करने लगूँ तो कोटि कल्प तक एक शब्द की ही व्याख्या नहीं कर सकता। आप कहते है, राम चरित्र को विस्तार के साथ कहो! राम चरित्र को तो मैं संक्षेप मे भी नहीं कह सकता। शत कोटि प्रविस्तर राम चरित्र का कथन तो केवल वाल्मीक मुनि ने ही किया है,ऐसे असंख्यों मुनियों ने रामचरित्र कहे है, रामचरित्र अगाध है, अपरिमेय है, अनन्त है, अनादि है, अपार है। आपको सुनाने की मुझ मे शक्ति नहीं। आप सब तो बहुश्रुत हैं। रामचरित्र कहने से मेरी वाणी पावन होगी। इसको बोलने की शक्ति सार्थक हो जायगी। इसलिये मैं रामचरित्र को यथा मति आपके सम्मुख कहूँगा। मेरे गुरुदेव ने जो कुछ कहा है, उसीका मैं विस्तार करूँगा। मुनियो! मेरी वाणी में इतनी शक्ति नहीं कि राम के पवित्र चरित्र का सरसता के साथ वर्णन कर सकूँ, किन्तु घर का लड्डू टेढ़ा मेढ़ा भी मधुर लगता है, इसी न्याय से राम चरित्र कैसे भी कहा जाय वह पाप नाशक पुण्य वर्धक है ही।

अच्छी बात है, तो अब श्रीराम के प्रादुर्भाव की आप कथा श्रवण करें ।"

अज पुत्र महाराज दशरथ इतने पराक्रमी थे, वे देवासुर संग्राम मे अमरों ने आकर उनके पैर पकडे और असुरो से युद्ध करने की याचना की। रघुवंश विभूषण महाराज दशरथ ने देवों की प्रार्थना पर असुरों से युद्ध किया, उन्हें परास्त किया उनकी स्त्रियों की मांग मे भरे सिंदूर को पोंछ दिया, उनके बालों को खुलवा दिया और उनके ऐश्वर्य को फीका बना दिया।

महाराज का विवाह दक्षिण कोशल देश के राजा की कन्या कौशल्या के साथ हुआ। दूसरा विवाह कैकय देश के राजा की पुत्री कैयी से हुआ। तीसरी उनकी पत्नी सुमित्रा थी। इस प्रकार महाराज के तीन प्रधान रानी तथा अनेक उपरानियाँ भी थीं महाराज पृथिवी पर दूसरे इन्द्र के समान निवास करते थे। उनके अवध के वैभव को देखकर शतक्रतु इन्द्र भी लज्जित हो जाते। उनके अन्तःपुर की शोभा को देखकर सुर ललनायें भी सकुचा जाती। उनकी सेना को देखकर स्वामिकार्तिकेय भी चकित हो जाते, उनके कोप को निहार कर कुवेर भी कंपित हो जाते। वे कल्प वृक्ष के समान सबके मनोरथो को पूर्ण करते कामधेनु के समान सभी को समस्त सामग्रियाँ देते, लोकपालों के समान प्रजा का पालन करते, प्रजापति के समान सबको प्यार करते। उनका जैसा ही ऐश्वर्य था वैसा ही तेज और पराक्रम भी था। उन्होंने अनेकों अश्वमेध यज्ञ करके ब्राह्मणों और याचकों को यथेष्ट दान दिये। इस प्रकार महाराज सहस्रों वर्षों तक पृथिवी का पालन करते रहे।

प्रजा का पालन करते-करते महाराज की युवावस्था प्रस्थान

कर गई। वृद्धावस्थाने आकर विना सूचना दिये राजा के शरीर पर आधिपत्य जमा लिया।

अब महाराज को चिन्ता हुई, मेरे पश्चात् अब इस सप्त-द्वीपा वसुमती का पालन कौन करेगा। अपनी चिन्ता उन्होने अपने कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ के सम्मुख उपस्थित की वशिष्ठ जी ने ध्यान से देखकर कहा—"राजन्! आप चिन्ता करें आपके पुत्र एक नहीं चार होंगे। वे साधारण पुत्र नही। पुराण पुरुष पुरुषोत्तम ही पुरुष देह में अवतरित होगे। आप महामुनि विभाण्डक के पुत्र ऋष्यशृंङ्ग को बुलाकर एक पुत्रेष्टि यज्ञ करावे तब आपका मनोरथ सफल होगा।"

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके महाराज ने तुरन्त अपने जामाता शांता के पति भगवान् ऋष्यशृंङ्ग को आदर सहित बुलाया। पुत्रेष्टि यज्ञ कराने मे निष्णात महामुनि ऋष्यशृङ्ग ने भगवान् वशिष्ठ की सम्मति से विधिवत् पुत्र की कामना से यज्ञ आरम्भ किया।

उन्ही दिनों रावण आदि दस्युओं के कारण दुखी देवगण गौ रूप पृथिवी को लेकर ब्रह्माजी को आगे करके क्षीर सागर में भगवान् के निकट गये। वहाँ उन्होंने मधुर वाणी से भगवान् की स्तुति की।

भगवान् शेप शैय्या पर पड़े ही पड़े ब्रह्माजी से कहा—"तुम लोग चिन्ता मत करो, मैं अवनिपर अवतरित होकर असुरों का संहार करूँगा।"धर्म की मर्यादा को स्थापित करूँगा और अपनी मधुमयी करुणा रस से भरी कथा का प्रचार करके संसार दुःख से संतप्त प्राणियों का उद्धार करूँगा।" भगवान् का ऐसा आदेश पाकर देवता अपने-अपने स्थानों को लौट गये।

फिर अपने समीप ही चरण सेवा करती हुई आद्याशक्ति महामाया महालक्ष्मीजी से महाविष्णु सनातन पुराण पुरुष बोले—"प्रिये ! मेरी इच्छा अब कुछ काल नर लीला करने की है, तुम यही तव तक अपने पिता समुद्र के घर रहो ।"

महालक्ष्मी आद्याशक्ति भगवती जगदम्बिका बोलीं-"अजी महाराज ! आप नर बनेंगे तो मैं नारी बनूँगी । बताइये ! मनुष्य योनि तो सभी योनियों में श्रेष्ठ है । आप उसमें लीला करें और मैं देखूँ ? नही यह कैसे होगा । छाया कभी शरीर से पृथक् हो सकती है ।"

प्रभु बोले-"अच्छी बात है,तुम मिथिला में जाकर अवतरित हो । मैं अवध में पुण्यश्लोक महाराज दशरथ के यहाँ उनकी भाग्यवती पत्नी कौशिल्या के गर्भ से उत्पन्न हूँगा । वे धर्मात्मा राजा आजकल पुत्र की कामना से एक पुत्रेष्टि यज्ञ कर रहे है, मैं उनकी इच्छा पूरी करूँगा । स्वयं यज्ञ पुरुष मैं उनके यहाँ पुत्र बनकर प्रकटित हूँगा ।"

भगवती जगदम्बिका बोली-"मैं तो पृथिवी की पुत्री बनूँगी अयोनिजा होकर अवनिपर अवतरित होऊँगी ।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, पहिले मैं चलता हूँ पीछे तुम आ जाना ।"

उसी समय चक्रवर्ती महाराज दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ । समाप्ति के समय साक्षात् हव्य वाहन अग्निदेव एक सुवर्ण पात्र में पायस लेकर प्रकट हुए । उन्होंने उस खीर पात्र को राजा को देते हुए कहा—'इसे अपनी पत्नियों में यथा-योग्य बाँट दो । तुम्हारी इच्छा पूरी होगी ।"

राजा ने बड़े आदर सत्कार से उस पायस पात्र को ग्रहण किया, श्रद्धा सहित सिर पर चढ़ाया और गुरु की आज्ञा से
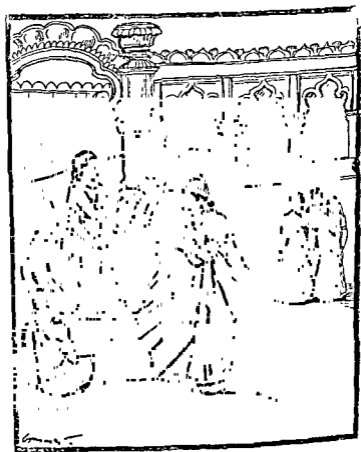
सूँघकर उसके दो भाग कर दिये। एक कौशल्या को दिया दूसरा भाग कैकेयी को। महाराज सुमित्रा को भी देना चाहते थे, किन्तु बड़ी रानियोंको गौरव देने के ध्यान से स्वयं न देकर

उन्ही से दिलवाने की उनकी इच्छा थी। कौशल्या ने अपने भाग से सुमित्राजी को दिया। कैकेयी ने भी उन्हे दिया। इस प्रकार तीनों रानियो ने उस दिव्य अमृतोपम पायस को पति की आज्ञासे प्रेम पूर्वक पा लिया। उसे पाते ही तीनो रानियाँ गर्भवती हो गई। उन तीनो का गर्भ शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। समस्त प्रजा मे आनन्द छा गया। भूमि शस्यश्यामला हो गई। देवता परम प्रमुदित हुए। असुरो का तेज क्षीण हो गया। राक्षस भयभीत से प्रतीत होने लगे। सभी के मन में एक अव्यक्त आह्लाद उत्पन्न हो गया। इस प्रकार नौ मास पूर्ण होने पर शुभ मास, शुभ पक्ष, शुभ तिथि, शुभ वार, शुभ कर्ण शुभ मुहूर्त, शुभ ग्रहनक्षत्र सबके एक साथ शुभ हो जाने पर दिन के मध्य भाग मे जब सूर्यदेव सिर पर आ गये थे तब कौशल्या रूपी प्राचीदिशि से दूसरे सूर्य का प्राकट्य हुआ। मानो सूर्यदेव फिर से अपने कुल मे बालक बनकर उत्पन्न हुए। कौशल्या ने एक रत्न को उत्पन्न किया। पुत्रोत्पत्ति सुनकर सर्वत्र बाधायें बजने लगे। स्त्रियाँ मंगलगान करने लगी, देवता स्वर्ग से पुष्पों की वृष्टि करने लगे। चैत्र शुक्लानवमी को श्रीराम का प्राकट्य हुआ।

छप्पय

अगिनि कुंड तें प्रकट भये पायस नृप दीन्हों।
तीनों रानिनि दियो भाग न्यायोचित कीन्हों॥
गर्भवती सब भई सबनिके हिय हुलसाये।
शुभ मुहूर्त शुभ समय राम कौशल्या जाये॥
शुक्लपक्ष मधुमास की, नवमी अति पावन परम।
प्रकटे रघुकुल चन्द्र शुभ, भयो अजन्मा को जनम॥

राम का नामकरण

(६५१)

रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया ॥

(श्री भा० ६ स्कं० १० अ० २ श्लोक)

छप्पय

कैकेयी ने कुमर भरत कुलदीपक जाये।
जनम सुतनि को सुनत अवनि पै वजत बधाये॥
सती सुमित्रा जने सङ्ग लक्ष्मण रिपुसूदन।
चार पुत्र मुख निरखि भूप को अति प्रमुदित मन॥
नाम करण संस्कार गुरु, सबके कीन्हें नेम तैं।
ह्वै हर्षित महिषी सबहिं, पुत्रनि पालें प्रेम तैं॥

एक कथा है, कि अंजना देवी के पास मिलकर कुछ ऋषि गये कि देवी तुम संसार में सबसे बड़ी हो, क्योंकि तुम्हारा पुत्र इतने भारी समुद्र को लाँघ गया था। अंजना ने कहा—"इसमें कौन सी बड़ी बात है। श्रीराम की कृपा से ही मैंने ऐसा किया। मैंने तो एक ही बार समुद्र को पार किया, श्रीराम ने तो समुद्र पर पुल बांध दिया अतः उनकी माता सबसे बड़ी हैं।" सब मिलकर कौशल्या के पास गये, कि माता जी आप सबसे बड़ी

---

*श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! श्री दशरथ जी के उन चार पुत्रों के नाम राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ये हुए।"

है,क्योंकि आप के पुत्रने समुद्र पर सेतु बाँध दिया।" माता ने श्री राम को बुला कर पूछा—"राम, ये मुनि कह रहे हैं, कि मैं सबसे बड़ी हूँ, क्योंकि तुमने समुद्र पर सेतु बाँध दिया और मैं तुम्हारी जननी हूँ,।"

श्रीराम ने कहा—"जननी तो बड़ी हैं, किन्तु सेतु बाँधना कोई बड़ी बात नहीं। अगस्त्यजी तो समस्त समुद्र के सलिल को एक चुल्लू में ही पी गये थे, अत: उनकी जननी आप से भी बड़ी हुई। सब मुनि मिलकर अगस्त्य के पास गये और कहा-आप सबसे बड़े हैं। अगस्त्य मुनि हंसपड़े और कहा—"न अंजना बड़ी न हनुमान बड़े। न कौशल्या बड़ी न उनके सुत राम बड़े। न मैं बड़ा न मेरे माता-पिता बड़े। सबसे बड़ा तो राम का नाम है, जिसके प्रभाव से समुद्र पर सेतु बना जिसके प्रभाव से शङ्कर जी विष को पचा गये और जिसके प्रभाव से मैं सम्पूर्ण समुद्र के सलिल को पान कर गया।" राम से भी बड़ा राम का पवित्र मधुमय नाम है।

सूतजी कहते हैं—' मुनियो ! चैत्र शुक्ला राम नवमी के दिन श्रीरामचन्द्र का जन्म हुआ। दूसरे दिन दशमी को कैकेयी के गर्भ से राम प्रेम के साकार स्वरुप जगत् पावन श्री भरतजी का प्राकट्य हुआ और चैत्र शुक्ला एकादशी को सती सुमित्रा से अश्विनी कुमारों के समान, नर नारायण के समान, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म हुआ। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के समान वे चारों कुमार अपने कमल मुखों से उस रनिवास को शोभायमान करने लगे। राजा की सैंकड़ों रानियों के नेत्र उन अन्त:पुरी स्थित बालकों को उसी प्रकार निहारने लगे जैसे चार चन्द्रों को असंख्यों कुमुद कुसुम निहारते रहते हैं। वे चारों सब के सुखदाता थे।

जब वे दश दिन के हो गये, तो गुरु वशिष्ठ ने आकर चारों बालकों का नामकरण संस्कार किया। जब कौशल्या अपनी गोदी मे राम को लेकर आयीं तब महामुनि वशिष्ठ अत्यन्त ही प्रमुदित हुए ! समीप ही पत्नियों के अंचल में अपने दुपट्टे के छोर को बाँध कर बूढ़े राजा दशरथ बैठे थे। इनसे गुरु वशिष्ठ कौशल्या को सुनाते हुए बोले—"ये कौशल्या नन्द वर्धन सब को आह्लादित करेंगे। सब इनके नाम, गुण, रूप में क्रीड़ा करेंगे योगी लोग इनमें रमण करेंगे अतः ये "राम" इस नामसे संसार में प्रसिद्ध होगे। इनके बहुत नाम होंगे, किन्तु राम, यह श्रुति, मधुर पावन नाम पाप के पहाड़ों को भी ढहाने में समर्थ होगा। "राम राम" ऐसा मुख से कहेंगे, उनके समीप पाप रह ही नहीं सकते। राम के नाम की बड़ी महिमा है, इसे मैं तो क्या मेरे बाप चतुरानन भी कहने में समर्थ न होंगे। ये दूसरे कैकेयी आनन्द वर्धन समस्त प्रजा का भरण पोषण करेंगे, ये सब के अन्तःकरण को प्रेम और आनन्द से भर देंगे ये अपने सद्गुणों से त्रिभुवन को पावन कर देंगे। अतः इनका नाम "भरत" ऐसा विख्यात होगा।

ये सुमित्रा के सौभाग्य को बढ़ाने वाले संसार में शौर्य वीर्य को प्रदर्शित करने वाले लक्ष्मि सपन्न होने से लक्ष्मण कहायेंगे। ये राम के बाह्य प्राणो के समान होंगे इनका यश विश्व में व्याप्त होगा और ये सत्य मार्ग के आचार्य होंगे। इनके छोटे भाई अपने बल पराक्रम और तेज से अरियों के दाँत खट्टे करने वाले, रिपुओं को हनन करने वाले, शत्रुओं को हनन करने वाले होने से शत्रुघ्न कहायेंगे ये भरत के अनुगत होंगे। इस प्रकार ये चार होकर भी दो और दो होकर भी एक ही होंगे। रामलक्ष्मण

और भरत शत्रुघ्न ये दो दो साथ होने पर भी राम में इन सबका अन्तर्भाव होगा।"

अपने पुत्रों की ऐसी प्रशंसा सुन कर पृथिवीपति दशरथ परम प्रमुदित हुए। उन्होंने अपने कुल पुरोहित भगवान् वशिष्ठ का पूजन सत्कार किया। फिर उन्होंने बहुत से ब्राह्मणों को भोजन कराया याचको को दान दिया। सभी ने हृदय से बालकों के अभ्युदय के लिये मनोकामना की और उन्हें भाँति भाँति के आशीर्वाद दिये। अब चारों कुमार बड़े लाड़ प्यार से बढ़ने लगे।

लक्ष्मण बाल्य काल से ही श्रीराम के अनुगत थे और शत्रुघ्न भरत के। पहिले-पहिले लक्ष्मण बहुत रोया करते थे, सुमित्रा ने गुरु वशिष्ठ को बुला कर उनसे प्रार्थना की—"प्रभो! यह बच्चा रोता बहुत है। इसे किसी की दृष्टि तो नहीं लग गई, किसी ने टोटका तो नहीं कर दिया। कोई यन्त्र मन्त्र कर दीजिये। झाड़ फूंक कर दीजिये या कोई और उपाय बताइये।"

वशिष्ठजी ने ध्यान से देख कर कहा—"रानी जी! इसका एक उपाय है, तुम इन्हें श्रीराम के पालने में सुला दिया करो। सुमित्रा जी ने ऐसा ही किया। रामजी के पालने में जाते ही लक्ष्मण किलकारियाँ मारने लगे वे उसी प्रकार प्रसन्न हुए जैसे अगाध समुद्र में जाकर मत्स्यराज का शिशु प्रमुदित होता है। अब तो माता को सरल उपाय मिल गया। लक्ष्मण को राम के पालने पर और शत्रुघ्न को भरत के पालने पर सुला कर वे निश्चिन्त हो जातीं। कौशल्या जी की सेवा करती रहतीं। मानों उन्होंने लक्ष्मण को कौशल्या को दे दिया और शत्रुघ्न को कैकेयी के लिये सौंप दिया। स्वयं सेविका बन कर दोनों बहिनों की

सेवा करने लगीं। सेवा का इतना उत्कृष्ट उदाहरण और कहाँ मिलेगा।

राजा के और भी रानियाँ थीं, वे सब श्रीराम को सगे पुत्र के समान प्यार करतीं। सबने अपने अपने महलों में पालने बना रखे थे। सभी ने भाँति भाँति के खिलौने मँगा रखे थे। माता पालने में सुला गई है, दूसरी रानी आयी, उठा ले गयी। दुसरों से तीसरी तीसरी से चौथी ऐसे ही वे बड़े प्यार दुलार से इधर से उधर घुमाये जाते। माता जब दूध पिलाने को खोज करतीं तो खोजते-खोजते बहुत समय बीत जाता। सब उनकी ऐसे ही रक्षा करती है, वे उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करती। राम सदा अनुराग में भीगे रहते। उनकी बड़ी बड़ी सुन्दर मनोहर आँखे थीं। कमल के समान नयन होने से उन्हे कमलनयन भी कहते। राजीवलोचन उनका दुलार का नाम था। कमल की पंखुड़ियों से भी कोमल उनके चरणतल थे। वे जब नेत्रों को मून्द कर हँस जाते तो ऐसा लगता मानों शरद कालीन चन्द्रकांत में दो बड़े कमल लगाये हँस रहा हो। वे जब किलकारियाँ मार कर अपने नन्हें नन्हें हाथों से माताओं के वस्त्रों को पकड़ कर उनकी छाती से लिपट जाते तो उनके स्तनों से स्वतः ही दूध बहने लगता उनकी काली काली घुँघराली, अत्यन्त ही सटकारी प्यारी लटें लटक कर उनके कमल मुख पर बिथुर जाती तो ऐसा लगता कि चन्द्रका अमृत पान करने नागों के छौना आये हों और वह कमल के सम्मुख क्रीड़ा कर रहे हों।

इस प्रकार वे शुक्ल पक्ष के चन्द्र के समान नित्य नित्य बढ़ने लगे। अब कुछ घूंटुओं के बल रेङ्गने लगे, अब धूलि में वे अपने वस्त्रों को मैला करने लगे।

मातायें उनके मनोहर मुख को देखकर अपने अङ्गों में फूली नही समाती। उन्हें बारबार छाती से चिपटाती। कई बार स्तनों का दूध पिलातीं लोरियाँ दे देकर पालने पर सुलातीं, गोदी में ले लेकर बड़े प्यार से खिलातीं, इधर उधर टहलाती, बोलना-चलना सिखाती, वस्तुओं के नाम बतातीं खिसकते खिसकते जब गिरने लगते तब उठाती प्रेम से ह्लिलाती। आँखों में मोटा-मोटा काजल लगाती। सुन्दर से सुन्दर वस्त्राभूषण मँगाकर पहिनाती। इस प्रकार सभी प्रकार से एकाग्रचित्त होकर वे श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न की देखरेख सेवा सुश्रूषा करती। ऐसा करने मे उन्हे हार्दिक प्रसन्नता होती।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! जिनके घर में साक्षात् आनन्द-घन परब्रह्म ही प्रकटित हो गये है, उनके भाग्य और सुख के सम्बन्ध मे कुछ कहना तो व्यर्थ ही है। यही तो जीवका परम लक्ष्य है। यही तो मानव शरीर की सार्थकता है। जब राम कुछ बड़े हुए तो अपने भाइयों के साथ भाँति २ के खेल खेलने लगे।"

छप्पय

अब कुछ घुटुअन चलत फिरत इत उत महलनि महँ।
बलिबलि जावें मातु बुलावत हँसि सैननि महँ॥
छोटी छोटी लटें लटकि आनन पै बिथुरें।
चमकीली लखि वस्तु दौरि ताहीकूँ पकरें॥
पानी कूँ पप्पा कहैं, हप्पा माँगे मातुतें।
बप्पा भूपति कूँ कहत, धूलि मलत निज गात तें॥

कारुणिक राम

तस्यानुचरितं राजन्नृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
श्रुतं हि वर्णितं भूरि त्वया सीतापतेर्मुहुः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १० अ० ३ श्लोक)

छप्पय

चलिवे सिखवन हेतु मातु पग घूँघुर बाँधें ।
पाँ पाँ पैयाँ चलें मातुकी उँगली साधें ॥
कुत्ता बिल्ली काक पकरिवे हाथ बढ़ावें ।
जब नहिं आवै हाथ रोइ जननी ढिंग जावें ॥
सम्मुख निरखत वस्तु जो, कर उठाय मुख महँ धरत ।
तोरत फोरत हँसत सब, मनहर शिशुक्रीड़ा करत ॥

कृष्ण चरित्र सरस शृङ्गारमय चरित्र है और रामचरित अत्यंत करुणामय है । वैसे तो कोई ९ रस बताते है कोई १० किन्तु यथार्थ बात यह है, रस दो ही है एक करुणा दूसरा शृंगार, किसी किसी का मत तो यह है, कि करुणा ही एक रस है । वही

---

*श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! सीता के पति उन श्रीरामका चरित्र तुमने बहुत बार सुना होगा । क्योंकि तत्वज्ञानी मुनियो ने श्रीराम के ही चरित्र का बहुत वर्णन किया है ।"

विविध रूप रखकर व्यक्त होता है। यदि करुण रस न हो, तो साहित्य मे कुछ रह ही न जाय। मिठाइयों मे माधुर्य को निकाल लिया जाय, तो वे किस काम की होंगीं। कोई भी रस करुण के बिना चमकता नही। करुण सभी रसों में अनुस्यूत है। करुण रस के बिना काव्य नीरस है। श्रीराम ने अवनि पर अवतरित होकर करुण रस की अविच्छिन्न धारा बहाई है,जो अभी तक बह कर भक्तों के हृदय को शीतलता प्रदान कर रही है और अनन्तकाल तक इसी प्रकार अविरल बह कर प्राणियों को कृतार्थ करती रहेगी। करुणा वियोग में, उत्कण्ठा में उत्पन्न होती है। कृष्णचरित्र संयोग चरित्र है, उसमें वियोग की एक झलक है, किन्तु वह बनावटी है, कृष्ण अपने हृदयेश्वरी से पृथक अवश्य होते है, किन्तु वह पृथकत्व कल्पित सा है। उसमे श्री कृष्ण अधिक दुखित नही होते वियोग तो वह है, कि दोनों ही रोवें दोनों ही छटपटावे दोनों ही बिलबिलावें, दो वियोग की धारायें समान रूप से बहें। करुणा का जैसा साकार स्वरूप राम चरित्र में मिलता है, वैसा संसार में कोई नहीं। राम का सम्पूर्ण जीवन रोते रोते बीता। बाल्यकाल मे वे माता की गोद में, पालने में, खेल मे रोते रहे। बड़े हुए तो रूखी जटा वाले बाबाजी के पल्ले पड़े। वहाँ माता पिता की स्मृति में रोते रहे। अरण्य मे भी विपत्ति के ऊपर विपत्ति पड़ी। अपनी प्राण प्रिया का वियोग हुआ वह तो पराकाष्ठा की करुणा थी। जैसे तैसे मिली कि फिर वियोग। जीवन भर रो रोकर ही उन्होंने करुणा की सरिता के पाट को बढ़ाया।

जिस हृदय में करुणा नहीं, स्निग्धता नहीं। वियोग कथा अनुभव करने की शक्ति नही वह राम चरित्र को पढ़े भी तो क्या समझ सकता है। कारुणिक हृदय ही राम चरित्र को

समझ सकता है। राम चरित का जन्म भी करुणा की ही कोख से हुआ वियोग की वेदना से ही उसका प्रादुर्भाव हुआ। भगवान् वाल्मीक तमसा के तट पर स्नान करने गये थे। वहाँ एक क्रौंच पक्षी के जोड़े में से नर पक्षी को व्याध ने मार दिया। इससे वह क्रौंची चीख मार कर रोने लगी। पति वियोग की व्यथा से व्यथित होकर उसका हृदय द्रवित हो गया। मुनि ने भी देखा उनके हृदय से भी करुणा का श्रोत फूट पड़ा। वे अत्यन्त दुखित हुए। आत्मविस्मृति से हो गये। सहसा उनके मुख से एक प्राकृत छन्द बिना संकल्प के स्वतः ही निकल पड़ा। *वह श्लोक ही रामचरित्र रचना में प्रधान कारण हुआ। इस प्रकार रामचरित्र का जन्म करुणा से ही हुआ। करुणा के द्वारा ही वह पला, करुणा में ही वह रहा और अन्त में करुणा में ही उसका पर्यवसान हुआ। अतः रामचरित्र को जितना ही सुनो उतनी ही उत्कण्ठा बढ़ेगी वह कभी पुराना नहीं होगा। रामचरित्र सुनने में जिन्हें नूतनता प्रतीत नहीं होती उन्होंने रामचरित्र का स्वारस्य नहीं समझा। जिनके नेत्रों से रामचरित्र सुनकर अश्रु प्रवाहित नहीं होते,उनका हृदय वज्र का बना है। रामचरित्र- कारुणिक चरित्र है। पाठक हृदय को सम्हाल कर नेत्रों को धोकर चित्त को एकाग्र करके राम का चरित्र सुनें उनका बाल चरित्र अत्यन्त ही सुखद है। सहस्रों वर्षों से जो मातायें बालकों के मुख देखने को लालायित हो रही थीं। उन्हें राम ने चार रूपों में ऐसी मनोहर झाँकी दी। कि वे निहाल हो गईं अब तक प्रेम न होने की सम्पूर्ण व्यथा को भूल गईं।

---

*मा निषाद प्रतिष्ठा त्वम गमः शाश्वती समाः
यत् क्रौंच मिथुना देक मवधीः काम मोहितम्

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न अब लड़खड़ाते हुए माताओं की उङ्गलियों को पकड़ कर चलने लगे। तोतली वाणी में कुछ बोलने भी लगे। वे अपनी बाल लीला से पिता माताओं को सन्तुष्ट करने लगे। माताओं का सम्पूर्ण समय उनके लाड़ प्यार और देखरेख में बीत जाता। प्रातःकाल उठते ही वे सोते हुए बालकों को लोरिया देकर उठातीं। उनका मुँह धुलातीं कुछ बालभोग खिलातीं। फिर नित्यकर्मों से निवृत्ति करा कर भाँति-भाँति के सुगन्धित तेल लगा कर उबटन लगा कर सुन्दर सुगन्धित सरयू जल से स्नान करातीं, बालों को सुलझातीं, आभूषणों को यथा स्थान सुन्दर चटकीली सुहावने रेशमी वस्त्रों को पहिनातीं, फिर इधर उधर घुमातीं, टहलातीं। महाराज उन्हें गोदी में लेकर चूमते पिता से कुमार भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते उनके दाढ़ी मोंछ के बालों को पकड़ लेते, चमकते हुए मुकुट को उतारने दौड़ते। महाराज प्यार से अपना मुकुट उतार कर श्रीराम को पहिनाते। जिससे उनका सब मुख ढक जाता मुकुट गले तक चला जाता। तब ऊब कर राम उसे उतारने का प्रयत्न करते, सभी हँस जाते। महाराज साथ साथ अपने थाल में बिठा कर सब को खिलाते महाराज मुख में कौर देते तो श्रीराम भी अपने छोटे छोटे हाथों में कोई मीठी वस्तु लेकर महाराज के मुख मे देना चाहते, किन्तु हाथ न पहुँचने के कारण वे विवश से हो जाते, तब तुरन्त महाराज उन्हें गोद में उठाकर उनके हाथ की वस्तु को खा लेते साथ ही उनके मुख को चूम लेते। चूमते समय कपोलों पर दाल भात, दही, कढ़ी लग जाती। जिसे देख कर रानियाँ हँस जातीं। महाराज स्वयं पोंछते तब आप भी कोई कढ़ी, दही, खीर आदि पतली वस्तु लेकर महाराज के मुख पर पोत देते, इससे सभी हँसने लगते। रानियाँ हँसते हँसते लोट पोट हो जातीं

कभी कभी खाते खाते ही बाहर भाग जाते, कभी खाते-खाते पिता की गोद में सो जाते। कभी पिता के बुलाने पर भी भोजन को न आते। सचिव सामन्तों के समवयस्क बच्चे खेलने आते उनके साथ चारों भाई भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते। छोटे छोटे धनुष बाण बना लेते। एक बनावटी किला बना देते। सभी धनुष बाण धारण करके उस पर चढाई करते, सब मिलकर श्रीराम का राज्याभिषेक करते। कभी कभी भरत जी अपने यहाँ से आद्याशक्ति देवी की सुवर्णमयी मूर्ति को उठा लाते। उसे सुन्दर चमकीले वस्त्र पहिना कर घूँघट मार कर दुलहिन बनाते। श्रीराम का उनके साथ विवाह करते सब बराती बनते। बरात सजाकर ले जाते माता से कुछ वस्तुयें माँग लाते उससे सबको प्रीति भोज करते। माता आकर हंसती हुई डाँटती। भरत से कहतीं—"अरे, तुमने यह क्या खेल किया? पूजा घर से भगवती देवी की प्रतिमा क्यों उठा लाये। ये तो जगन्माता हैं।"

तब हँसते हुए भरत कहते—"ये जगन्माता हैं तो श्री राघव जगद्-पिता हैं?"

यह सुनकर रानियाँ हँस जातीं और कहतीं अभी ये बच्चे ही तो हैं, समझते नहीं। इस प्रकार बच्चों के जितने खेल हैं उन सब खेलों को खेलते हुए वे सब को सुख देने लगे। इस प्रकार वे कुछ बड़े हुए। पिता ने गुरु वशिष्ठ को बुलाकर सब का उपनयन संस्कार कराया, मन्त्र दीक्षा दिलाई। उपनयन के पश्चात् ये अन्तः पुर को छोड़कर गुरु गृह में जाकर रहने लगे और सभी शास्त्रों का अध्ययन करने लगे।"

छप्पय

सखनि संग मिलि करें खेल अब चारो भैया।
चरित निरखि नृप सहित मुदित हों तीनों मैया॥
बड़े भये उपनयन करयो गुरु गृह भिजवाये।
मुनि वशिष्ठ प्रभु-शिष्य पाइ अति हिय हरषाये॥
गुरु सुश्रूषा करहिं सब. पढ़हिं पाठ एकाग्र चित।
समय शील संकोच युत, सुनहिं शास्त्र श्रुति तन्त्र नित॥

विश्वामित्र मखरक्षक राम

(६५३)

विश्वामित्राध्वरे येन मारीचाद्या निशाचराः।
पश्यतो लक्ष्मणस्यैव हता नैऋर्तपुङ्गवाः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १० अ० ५ श्लोक)

छप्पय

सीखे साखे राम लोक व्योहार दिखावें।
गुरु महिमा को मर्म शिष्य बनि सबहिं सुनावें॥
स्वल्प समय महँ शास्त्र पढ़े गुरु चकित भये अति।
स्वय सच्चिदानन्द समुझि अति विमल भई मति॥
वय किशोरने वरे जनु, ओठनि छाई कालिमा।
पदतल अधर कपोलनिहिं, बढ़ी सघन की लालिमा॥

प्रभु जब मर्यादा स्थापना के लिये अवतरित होते है, तब सभी प्राकृत लीलायें सर्व साधारण की ही भाँति करते हैं। लीलायें सर्व साधारण होने पर भी उनमें आकर्षण अत्यधिक होता है। उनमे सरसता सौदर्य का ऐसा पुट लगा रहता है, कि जिनका भी चित्त उस ओर खिचता है, वही विमुग्ध बन जाता

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! जिन्होने विश्वामित्र जी के यज्ञ मे उनके रक्षा के निमित्त लक्ष्मण के देखते देखते मारीच आदि निशाचरों का नाश कर दियः।"

है। प्रभु की लीलायें प्राकृत सी दिखाई देने पर भी अप्राकृत हैं। वे मानवीय सी लगने पर भी दिव्य है,उनमें विश्व को विमोहित करने की शक्ति निहित है। जो श्रद्धा से उनकी इन लीलाओ को सुनेंगे वे तो लाभ में रहेगे, जो मानवीय भाव से इन्हें समझेंगे मानव ही बने रहेगे।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! श्रीराम अपने तीनों भाइयों के साथ साथ गुरु के घर मे पढ़ने गये। अब वे माताओं से पृथक गुरु घर में रहने लगे। अव वे राजसी वस्त्राभूषण नहीं धारण करते थे। मूंज की मेखला धारण करके रुरु नामक मृग का चर्म धारण करते। खदिर का दण्ड धारण करके कोपीन लगाते और गुरुगृह मे भिक्षा पाकर विद्याध्ययन करते। ब्रह्मचारी वेष में श्रीराम मूर्तिमान् ब्रह्मचर्य ही दिखाते। गुरु जो भी एक वार पढ़ा देते, उसे वे तत्काल याद कर लेते। याद क्या कर लेते, उन्हें तो सब वेदशास्त्र पहिले से ही याद थे। वेद तो उनकी स्वांस से ही उत्पन्न हुए है। शास्त्र तो उनका निर्मित शासन है उनकी सर्ग की स्मृति ही अनेकों स्मृतियाँ हैं। प्रथम तो भगवान् वशिष्ठ को उनकी ऐसी कुशाग्र बुद्धि पर आश्चर्य हुआ। फिर यह समझ कर कि ये तो साक्षात् परब्रह्म पुराण पुरुष है, उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। उनके रोम-रोम खिल गये, उन्होंने अपने जीवन को सार्थक समझा।

इस प्रकार स्वल्पकाल में ही श्रीराम ने सभी वेद, समस्त शास्त्र, सभी विद्यायें पढ़ ली। गुरु वशिष्ठ ने महाराज दशरथ से कहा—"राजन् ! आपके सब पुत्र समस्त विद्याओं में पारङ्गत हो गये। वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता हो गये।" यह सुनकर महाराज दशरथ परम प्रमुदित हुए। वे, गुरु की आज्ञा से अपने प्राणों से

भी प्यारे प्रिय पुत्रों को बड़ी धूमधाम और वैदिक विधि से घर ले आये।

उन्हीं दिनों महर्षि विश्वामित्र पूर्व दिशा के अरण्यों में रहकर घोर तपस्या कर रहे थे। राक्षस असुर उनके यज्ञों में आ आकर विघ्न करते। वे चाहते तो अपने तप के प्रभाव से राक्षसों को क्रोध करके नष्ट कर सकते थे,किन्तु उन्होने सोचा—"मैंने जब जब क्रोध किया, तब तब मेरा सहस्रों वर्ष का तप नष्ट हो गया। एक बार वशिष्ठ जी पर क्रोध किया, उर्वशी पर क्रोध किया, मैंनका पर क्रोध किया, सभी से तप की हानि हुई। तपस्या में क्रोध ही बड़ा शत्रु है,जिस तपस्वी को क्रोध है, उसका तप सफल नहीं हो सकता। अतः अब असुरों पर भी क्रोध न करेंगे।" किन्तु क्रोध न करें तो काम कैसे चले? ये असुर राक्षस तो बड़ा उत्पात करते हैं। जब उन्होंने ध्यान से देखा तो उन्हें विदित हुआ कि अवधपुरी में देवताओं की प्रार्थना पर अनादि अज अच्युत अखिलेश भूमि का भार दूर करने, असुरों का संहार करने, महाराज दशरथ के पुत्र बनकर अवनि पर अवतरित हुए हैं। यदि मैं उन्हें किसी प्रकार अनुनय विनय करके यहाँ ले आऊँ, तो मेरा यज्ञ भी पूर्ण हो जाय और असुरों का भी विनाश हो जाय। एक साथ दो कार्य हो जायँ। मुझे स्वयं क्रोध भी न करना पड़े और असुरों का भी विनाश हो जाय।"

यह सोचकर वे श्रीराम को लेने अवधपुरी की ओर चले। राम को लाना अत्यन्त कठिन कार्य था। दशरथ उन्हें प्राणों से भी अधिक चाहते हैं, वे शक्ति भर देंगे नहीं। उनके आये बिना कार्य होगा नहीं, यही सब सोचते विचारते वे अयोध्यापुरी के निकट पहुँच गये और राजा के महलों की ड्योढ़ियों पर पहुँचे प्रहरी से उन्होंने अपने आने का सन्देश राजा तक पहुँचाया।

महामुनि विश्वामित्र का आगमन सुनकर राजा सहसा सकपका गये। वे शीघ्रता से सिंहासन पर से उठ कर नंगे पैरों ही वशिष्ठ जी को आगे करके मुनि के स्वागत के निमित्त चले। द्वार पर पहुँच कर राजा ने मुनि के पादपद्मों मे प्रणाम किया, शास्त्रीय विधि से उनकी पूजा की। कपिल गौ उनको भेट की और बड़े सत्कार से उन्हें अपने यहाँ ले आये।

मुनि की पूजा होने के अनन्तर दोनों ओर से कुशल प्रश्न हो जाने के उपरान्त हाथ जोड़ कर स्नेह भरी वाणी में राजा दशरथ बोले--"ब्रह्मन् ! आज मेरे यज्ञादि समस्त शुभ कर्म सफल हो गये, आज मेरा घर पावन बन गया, आज मेरे पितर तर गये जो आप जैसे परमार्थियो की पादरज मेरे गृह में पड़ गई, ब्रह्मन् ! आपने मुझे दर्शन देकर अत्यन्त ही अनुग्रहीत किया। अब मेरी यह जानने की अत्युत्कट अभिलाषा है, कि भगवान् मुझे केवल कृतार्थ करने दर्शन देने ही पधारे हैं, या मेरे लिये कोई विशेष आज्ञा है।"

गम्भीर होकर विश्वामित्र बोले--"राजन् ! मैं एक आवश्यक कार्य से आपके समीप आया हूँ, यदि आप मेरी याचित वस्तु को देने का वचन दें, तब मैं कहूँ ?"

यह सुनकर अत्यन्त अधीरता प्रकट करते हुए दीन वाणी में राजा बोले--"प्रभो ! आप यह कैसी बातें कह रहे हैं। ऐसा प्रश्न तो दूसरों से किया जाता है। मैं तो आपका अनुगत. अनुचर, शिष्य, सेवक, सुत तथा आज्ञाकारी भृत्य हूँ। स्वामिन् ! मेरा राज्यपाट, कोष, सुत, परिवार सर्वस्व आपका है। आप आज्ञा करें, यदि प्राण देकर भी मैं आपकी आज्ञा का पालन कर सकूँगा तो करूँगा, यदि आप इन्द्र का सिंहासन चाहेंगे, तो उसे

भी मैं युद्ध में इन्द्र को परास्त करके ला सकूँगा। आज्ञा दीजिये मैं आपकी कौन सी आज्ञा का पालन करूँ।"

यह सुनकर मुनि बोले—"राजन्! मुझे और कुछ नहीं चाहिये। मैं तो आपसे आपके दोनों पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण को चाहता हूँ।"

इतना सुनना था, कि महाराज दशरथ तो मूर्छित हो गये। सभा में हाहाकार मच गया। कोई पङ्खा लेकर दौड़ा, किसी ने सलिल सुगन्धित जल छिड़का सभी के मुख पर व्यग्रता छा गई। किन्तु विश्वामित्र गम्भीर ही बने बैठे रहे।"

कुछ चेत होने पर मुनि ने अधिकार के स्वर में कहा—"राजन्! बोलो, क्या कहते हो? पुत्रों को देते हो या झूठे बनते हो?"

राजा ने दीन होकर कहा—"प्रभो! आप मेरे सुकुमार भोले भाले फूलसे सुतों को लेकर क्या करेंगे? साधुओं का शुष्क जीवन वे राजकुमार कैसे व्यतीत कर सकेंगे?"

मुनि बोले—"मैं जब जब यज्ञ करता हूँ, तब तब असुर राक्षस आकर उसमें विघ्न करते है, उन असुरों से अपने मख की रखवाली राम लक्ष्मण से कराऊंगा। इनके द्वारा उन दुष्टों को मरवाऊँगा। पृथिवी को निष्कण्टक बनाऊँगा और साधुओं के दुख को दूर कराऊंगा।"

दीनता के साथ राजा बोले—"तब ब्रह्मन्! इस कार्य को तो मैं ही कर सकता हूँ। मैं अपनी चतुरङ्गिनी सेना लेकर आप के साथ चलूँगा। सब ओर से आपके मख स्थल को घेर लूँगा। राक्षसों को आने भी न दूँगा। ये सुकुमार बच्चे अभी युद्ध कला को क्या जाने ये राक्षसों को भला कैसे मार सकते हैं?"

मुनि बोले—"राजन् ! यह काम आपके मान का नहीं। आप उन राक्षसों को नहीं मार सकते। आपकी सेना कुछ काम न देगी।" राजा ने पूछा—"प्रभो ! ऐसे वे कौन से राक्षस हैं,मैं नहीं मार सकता।"

मुनि बोले—' राक्षसों का राजा रावण है उसकी प्रेरणा से सुन्द, उपसुन्द मारीच, सुबाहु आदि बहुत से राक्षस आकर मेरे मख में विघ्न डालते है। उन्हीं से मुझे भय है। उन्हें मैं राम के द्वारा मरवाऊँगा।

रावण नाम सुनते ही राजा परम भयभीत हो गये, बोले—"ब्रह्मन् ! उस दुष्ट रावण ने तो तीनों लोको को जीत लिया है हमारे पूर्वज महाराज अरण्य को मार दिया है। ब्रह्मन् मैं उससे युद्ध नही कर सकता। सुन्द उपसुन्द का भी पराक्रम मैंने सुना है। मैं मेरी सेना समस्त भूपतिगण रावण से युद्ध नहीं कर सकते। इनके साथ युद्ध करने मै अपने पुत्रों को कभी न दूँगा। किसी प्रकार न दूँगा। आप चाहें शाप देकर मुझे भस्म ही क्यो न कर दे।"

यह सुनकर मुनि कुपित हुए। उन्होंने राजा को डराया धमकाया। साम दाम, दण्ड-भेद आदि सभी उपायो से विवश किया। राजा थर-थर कांप रहे थे, डर रहे थे, भयभीत हो रहे थे, किंतु राम लक्ष्मण को देने को उद्यत नही थे। मुनि ने राम का प्रभाव बहुत समझाया, ये साक्षात् विष्णु हैं अनेक प्रमाणो से सिद्ध किया अपने तप तेज का प्रभाव बताया, रक्षा करने का आश्वासन दिया। किन्तु राजा किसी प्रकार मानते ही नही थे। मुनि का आग्रह था कि मैं राम लक्ष्मण को लेकर जाऊँगा। राजा का प्रतिज्ञा थी चाहे पृथिवी उलट पलट हो जाय, इधर का सूर्य

उधर से उदय होने लगे अग्नि सशीत हो जाय, चन्द्रमा टूट कर पृथिवी पर गिर जाय मेरा राज्य पाट नष्ट हो जाय, किन्तु मैं अपने पुत्रों को बाबाजी के साथ न भेजूँगा।"

बात को बढ़ते देखकर वशिष्ठजी बीच में पड़े। उन्होंने राजा को भाँति २ से समझाया। मुनि के तप तेज का महत्व जताया। राम का प्रभाव बताया। अब राजा क्या करते उन्होंने राम-लक्ष्मण को देना स्वीकर किया। दोनों पुत्रों को बुलाया और रोते-रोते विश्वामित्र वशिष्ठ का आदेश सुनाया। सुनकर राम-लक्ष्मण परम हर्षित हुए। माता पिता को प्रणाम करके वे बिना हर्ष विस्मय के मुनि के पीछे पीछे चले। उस समय महाराज की बुरी दशा थी, वे रो रहे थे। उनके सिर के बाल बिखर गये थे और अत्यन्त अधीर होकर लम्बी लम्बी साँसे ले रहे थे। तब तक वे उन्हें एकटक भाव से देखते रहे, जब वे आँखों से ओझल हो गये तब मूर्छित होकर गिर पड़े। भगवान् वशिष्ठ ने राजा को भाँति भाँति के इतिहास सुनाकर समझाया अनेक प्रकार से धैर्य बंधाया और बताया कि मुनि के साथ जाने से राम लक्ष्मण का सभी प्रकार से कल्याण ही है। संसार का भला इसी से होगा। मुनि के समझाने से राजा ने जैसे तैसे धैर्य धारण किया।

सरयू के किनारे किनारे चलते हुए मुनि को सूर्यास्त हो गया। तब महर्षि विश्वामित्र ने कहा—"रामभद्र! तुम्हारा कल्याण हो। वत्स! तुम डरते तो नहीं। देखो, भगवान् भुवन भास्कर अस्ताचल की ओर प्रस्थान कर गये। पक्षी अपने अपने घोंसलों में घुस गये। सन्ध्या का समय बीत रहा है। आज हम इसी वृक्ष के नीचे रहेंगे।"

सरल स्वभाव से राजीव लोचन बोले—"भगवन् ! जब समस्त भयों को नाश करने वाले आपका वरद हस्त हमारे ऊपर है तब हमें भय किस बात का । भगवान् की जैसी आज्ञा होगी उसका अक्षरशः पालन करेगे ।"

श्रीराम के ऐसे सारगर्भित वचन सुनकर विश्वामित्रजी वही रह गये और नित्य कृत्य करके उन्होंने वह रात्रि वही बिताई । प्रातःकाल मुनि ने भोर में दोनों भाइयों को अत्यन्त स्नेह से जगाया । नित्यकर्मों से निवृत्ति होकर वे आगे बढ़े ।

मार्ग में उन्हें बडे मुख वाली, लम्बी लम्बी दाँतों वाली ताड़का नाम की राक्षसी मिली । उसका मुख पर्वत की कन्दरा के समान था । हल की फार से भी बड़े उसके दाँत थे। खुटेके समान उसकी दाढें थीं । सूप से भी बड़े उसके कान थे । उसके स्तन ऐसे लगते थे मानों दो पर्वत शिखर उसकी छाती पर रखें हों, उसके बाल बिखरे हुए थे । बड़े बडे हाथ थे, उसके उस विकराल रूप को देखकर श्रीराम तनिक भी विचलित नही हुए उन्होंने विश्वामित्र जी से पूछा—"प्रभो ! यह विकराल भेष वाली राक्षसी कौन है ?"

विश्वामित्र जी बोले—"यह सुकेतु नामक यक्ष की पुत्री है और सुन्द नामक राक्षस की पत्नी है, यह बड़ी क्रूरकर्मा है, रामचन्द्र इसे तुम मार डालो ।"

श्रीराम बोले—महाराज ! पहिले ही पहिले तो मुझे मारना आरम्भ करना है । श्री गणेश इससे ही करूँ ? स्त्री को ता अवध्या बताया है ।"

विश्वामित्र जी बोले—"भाई ! वेद शास्त्र को प्रकट करने वाले हम ऋषिगण ही तो हैं । जो सबको क्लेश देता हो, जिसके

कारण प्राणीमात्र दुखी होते हों, जो हिंसक क्रूर सर्व द्वेषी हो, वह स्त्री हो या पुरुष अथवा नपुसंक प्रजा के हित मे तत्पर नर पति को उसे अविलम्ब मार देना चाहिये। इसलिये तुम कारण पीछे पूछना इस समय तो तुम इसे अभी मार डालो।"

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके श्रीराम जी धनुष पर वाण चढाकर उसकी ओर दौड़े। श्रीराम को अपनी ओर आते देख कर अट्टहास करती हुई मुँह फाड़ कर वह राक्षसी श्रीराम को खाने के लिये दौड़ी। लक्ष्मण उसके ऐसे विकराल रूप को देखकर कुछ भयभीत हुए। किन्तु श्रीराम को कुछ भी भय नही हुआ। उन्होंने एक पैर को आगे रखकर कान तक धनुष की ज्या को खींचकर उसके गर्भस्थान को लक्ष्य करके एक अत्यन्त पैना वाण उसकी छाती में मारा। बाण के लगते ही वह वड़ी भारी पहाड़ी के समान धड़ाम से धरती पर गिर गई, उसकी आँखे निकल आईं, मुँह फट गया और प्राणहीन होकर निश्चेष्ट हो गई।

उस समय श्रीराम के ऊपर देवताओं ने पुष्पों की वृष्टि की मुनियों ने जय जयकार किया। विश्वामित्र जी ने उनका सिर सूँघा। बला और अति बला नामकी उन्हें विद्याये प्रदान की तथा उनकी प्रशंसा करते हुए आगे बढ़े। उस समय सूर्य पश्चिम दिशा की ओर अत्यन्त शीघ्रता से बढ़ रहे थे। मुनि विश्वामित्र बोले—"रामभद्र! बेटा! तुमने आज ऐसा कार्य किया है, जिसे देवता, यक्ष, राक्षस कोई नही कर सकते। यह यक्ष की पुत्री राक्षस की पत्नी ब्रह्माजी के वरदान से सहस्र हाथियों के समान बल वाली थी। इसे कोई मार नहीं सकता था। यह सबको क्लेश देती थी, आज तुमने इसे मारकर संसार का बड़ा कल्याण किया। अब यह वन निष्कण्टक हो गया। आज रात्रि मे हम

लोग यहीं निवास करें। तुम्हारे रहने से यह वन परम पावन तीर्थवन जायगा।"

यह सुनकर लजाते हुए श्रीराम ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की और एक सघन वृक्ष की छाया में जहाँ जल का सुपास था, अपना आसन जमाया। सन्ध्या वन्दनादि नित्य कृत्यों से निवृत्त होकर मुनि सो गये। श्रीरामचन्द्र भाई लक्ष्मण के सहित उनके पैर दबाते दबाते अनेक कथाओं को पूछते रहे और विश्वामित्र जी श्रीराघव के पूछने पर प्राचीन कथायें सुनाते रहे। इस प्रकार वह रात्रि उन्होने वहीं बिताई।

ताड़का वध की बात सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! श्रीरामचन्द्र जी ने स्त्रीवध क्यों किया? स्त्री को तो सर्वत्र अवध्या बताया गया है। हम देखते हैं राम कृष्ण दोनों ही अवतारों ने वध कार्य स्त्री से ही आरम्भ किया श्रीराम ने आरम्भ में ताड़का बध किया और श्रीकृष्ण ने पूतना वध से मार धाड़ संहार आरम्भ किया। इसका क्या रहस्य है?"

यह सुनकर सूतजी बोले "महाराज? श्रीकृष्ण की बात तो आप मुझसे अभी पूछें नहीं। इन टेढ़े टाँग वाले काले देवता की मथुरा तो तीनों लोक से न्यारी ही है। हाँ मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की बात मैं बता सकता हूँ। ये पुरुषोत्तमतो मर्यादा के साकार स्वरूप हैं। अतः ये मर्यादा विरुद्ध तो कोई कार्य कर नहीं सकते।"

ताड़का वध का प्रथम कारण तो यह है, कि अयोध्या से चलते समय ही विश्वामित्र जी ने श्रीराम को दिव्य विद्यायें

सिखाई। विद्या सिखाने के अनन्तर गुरु जो भी दक्षिणा मांगे वह देनी ही चाहिए। सम्भव हो या असम्भव। सांदीपिनी मुनिने

श्रीकृष्ण से १२ वर्ष पूर्व मरे लड़के को गुरु दक्षिणा में माँगा। बात असंभव थी। यमराजकी शक्ति के बाहर थी, किन्तु श्रीकृष्ण तो यमराज के भी बनाने वाले है। यम ने आना कानी की।

भगवान् ने डाँटकर कहा—"मेरे शासन को पुरस्कृत करके तुम उस वच्चे को दे दो।" यह तो नियम के विरुद्ध विशेष आज्ञा थी। यम ने दे दिया। इसी प्रकार ताड़का वध की गुरु आज्ञा सुनकर पहिले तो श्रीराम हिचके किन्तु जब गुरु ने वल देकर कहा—"इसे मेरी आज्ञा से मारो।" तब राम क्या करते गुरो राज्ञा गरीयसी" ताड़का को गुरु आज्ञा समझकर मारा।

दूसरी बात यह है, कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ओर है। जो मनुष्य सर्व प्रथम अपने वैषयिक प्रकृति को मार नही लेता तब तक वह कोई भी महत्व पूर्ण कार्य कर नही सकता। अतः प्रकृति पर विजय पाना यह पुरुष का प्रथम कर्तव्य है।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है, एक प्राचीन कहावत है कि 'चार को न मारकर पहिले चोर की माँ को मार डालो जिससे चोर पैदा हो ही नहो।" विश्वामित्र मुनिके मखमें मारीच सुवाहु ही वहुत विन्घ किया करते थे। रामजीने सोचा चोरोंको मारने के प्रथम इनकी माँ को मार दो। वाँध तभी बँधेगा जब उसकी मूल धारा रोकी जाय। हमने मारीच सुवाहु को मार डाला यह फिर ऐसे ही राक्षस पैदा करती रही तो मुनियों को कष्ट होगा, अतः पहिले मूल को ही निर्मूल करो इसलिये पहिले ताड़का को मारा तब मारीच सुवाहु को।

चौथा कारण यह भी हो सकता है, कि मनुष्य धन लुटने से उतना क्रोधित नही होता, अपने अपमान से उतना क्रोधित नहीं होता जितना स्त्रियों के वध से, उनके अपमान से क्रोधित होता है अतः उन्होने ताड़का को मारकर राक्षसों को मानों चुनौती दी कि अब तुम युद्ध के लिये तत्पर होजाओ। मैं समस्त राक्षसों का संहार करूँगा।"

पाँचवाँ कारण यह भी हो सकता है, कि स्त्री तो अत्यन्त सुकुमारी दयावती होती है। किन्तु जब वह स्त्रीत्व का परित्याग करके राक्षसी बन जाती है, अपनी ही सन्तानों को खाने लगती है, तब वह अवध्या नहीं रह जाती। सर्पिणी अपने बच्चों को खाजाती है, अतः कोई दूसरा सर्पिणी को मार दे, तो साधु लोग मन से प्रसन्न होते है। ताड़का सदा नरो का भक्षण करती थी।

छटा सबसे बड़ा कारण यह भी है, कि भगवान् का अवतार साधुओं के परित्राण के लिये होता है, जिसकार्य से भी साधुओं का सज्जनों का भला हो,भगवान् उसीको करते हैं उचित अनुचित को बनाने वाले वे ही हैं, अतः भागवान् जो करते है अच्छा ही करते हैं। इसलिये भगवान् राम के लिये तो कोई कुछ कह ही नहीं सकता। राजाराम के लिए तो यह बात खटकने का है ही नहीं।

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी ! आप सत्य कहते हैं। भगवान् की लीला तो भक्तों को सुख देने के ही लिये हैं रुधिरको पीने वाली राक्षसी को मार देना राम की क्रीड़ा ही है, हाँ तो आगे की कथा कहिये।

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियों ! अब आप आगे की कथा श्रवण करें। वह रात्रि विश्वामित्रजी ने ताड़का वन में बिताई। जब प्रातः काल हुआ नित्यकर्मों से निवृत्त होकर राम लक्ष्मण को लिए हुए मुनि आगे बढ़े। पहिले-पहिले तो रामजी को विश्मामित्र जी से बोलने में बड़ा सकोच होता था। जब वे उन्हें पुत्र की भाँति प्यार करने लगे और घुलकर अत्यत ही स्नेह से कथायें सुनाने लगे, तब श्रीराम का भय खुल गया वे

स्नेही पुत्र की भाँति निर्भय होकर मुनि से भाँति भाँति के प्रश्न करने लगे। विश्वामित्र जी भी उनके सभी प्रश्नों का अत्यन्त प्यार दुलार के साथ समझा समझा कर उत्तर देने लगे। श्रीराम के लिये ऐसे बीहड़ वन में एकाकी पैदल आना यह प्रथम अवसर था। अतः वे जिस वस्तु को भी देखते, उसी के सम्बन्ध में पूछने लगते। उन्हें विश्वामित्र का आश्रम देखने की बड़ी चटपटी लगी हुई थी। वे राक्षसों से युद्ध करने को बडे ही लालायित थे, आज प्रातः काल ही विश्वामित्र जी ने उन्हें बहुत से दिव्य अस्त्र संधान उपसंहार विधि के सहित प्रदान किये थे। उनकी परीक्षा करने को श्रीराम अत्यन्त ही समुत्सुक प्रतीत होते थे। उन्होने मुनिसे पूछा—"प्रभो ! आपका आश्रम अब कितनी दूर है ? हम के दिन में वहाँ पहुँचेंगे ?"

विश्वामित्र ने श्रीराम की ठोढी में हाथ लगाते हुए उनके कपोल को छूकर कहा—"अरे बेटा ! अब कहाँ दूर है ? अब तो हम आ गये। देखो, यह तो ताड़का वन है, इससे आगे एक मुनियो का छोटा सा वन और है। उसी के आगे मेरा सिद्धाश्रम है।"

राम ने उत्सुकता से पूछा—"भगवन् ! आपके आश्रम का नाम सिद्धाश्रम क्यो पड़ा ?"

विश्वामित्र बोले—"रामभद्र तुमने सुना होगा, पुराण पुरुष विष्णुने इन्द्रको त्रिभुवन का राज्य देने के लिये वामनावतार धारण किया था. वे कश्यप अदिति के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुए थे। उन्होने यही आकर तप किया था और यही वे सिद्ध हुए थे। इसीलिए इसका नाम सिद्धाश्रम है। मैं विष्णु का भक्त हूँ इसी आशा से इस सिद्धाश्रम पर तप कर रहा था, कि कभी साक्षात् विष्णु को यहाँ ले आऊँगा, सो आज मेरा

मनोरथ पूर्ण हो जायगा। आपके पधारनेसे मैं कृतार्थ हो जाऊँगा, यथार्थ मे सिद्ध हो जाऊँगा।"

राम ने मन ही मन लजाते हुए इस प्रसंग को तुरन्त बदल दिया। और बोले—"भगवन् ? आपके यज्ञ में विघ्न कौन करता है ?"

विश्वामित्र बोले–"बेटा ! आकाशचारी, रुधिर को पीनेवाले बड़े-बड़े राक्षस ही आकार विघ्न करते हैं ?"

राम बोले—"भगवन् ! मैं उन्हें आपकी कृपा से आपके आशीर्वाद से तुरन्त सर से बाण चलाकर मार डालूँगा क्यों मर जायँगे न ?"

विश्वामित्र बोले–"राम ! वे मर ही न जायँगे तुम्हारे बाण लगते ही संसार सागर से सदा के लिये विमुक्त बन जायँगे।"

श्रीराम ने पुनः बात बदली और बोले—"भगवन् ! उन राक्षसों का नाम क्या है ? वे इतने बली क्यों हुए ?"

विश्वामित्र बोले—"बेटा ! अभी जो तुमने ताड़का मारी है उसके दो पुत्र है,मारीच सुवाहु ये दोनों अन्य बहुत से राक्षसों के साथ आकर मेरी यज्ञ मे विघ्न करते है। मैं जब-जब यज्ञकी दीक्षा लेता हूँ, तब-तब आकर मांस शोणित की वर्षा करते हैं, भाँति-भाँति के उपद्रव करते है।"

श्रीराम—"बोले ब्रह्मन् ! अब ऐसा न होगा, उन दुष्टों को मैं यथेष्ट दण्ड दूँगा। उनको अशिष्टता का फल चखाऊँगा।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ? इस प्रकार अनेक बातें करते हुए विश्वामित्रजी ने दूर से ही श्रीराम लक्ष्मण को अपना आश्रम

दिखाते हुए कहा—"राघव ! सामने जो तुम्हें हरा-भरा आश्रम दिखाई दे रहा है, वही सिद्धाश्रम है। यहीं मैं रहता हूँ, इसे तुम अपना ही समझो।" श्रीराम दूर से ही आश्रम को देखकर बड़े प्रसन्न हुए।

सम्पूर्ण आश्रम ब्राह्मी श्री से युक्त था। उसमें स्थान-स्थान पर सुन्दर सघन वृक्ष लगे हुए थे। जिन पर बैठे भांति-भांति से पक्षी कलरव कर रहे थे। मोर, चकोर, हंस, सारस, कारंडव समीप से सरोवरों के निकट किलोलें कर रहे थे। बहुत से वृक्ष फलो से लदे हुए थे। बहुतों पर पुष्प लगे थे। उन सबके थाले बने थे। वल्कल वस्त्र पहिने मुनिगण उनमे पानी दे रहे थे। बड़ी-बड़ी लताओं की स्थान स्थान पर कुंजें बनी थीं। विविध पुष्पों की दिव्य सुगन्धि से सम्पूर्ण आश्रम सुगन्धित हो रहा था। यज्ञ के धर्म की सुरभि आकाश मण्डल में व्याप्त होकर वायु को सुवासित कर रही थी। हरी-हरी मंजरी युक्त तुलसी स्थान-स्थान पर लगी हुई थी। केले के फलयुक्त वृक्ष हिल-हिल कर अतिथियो का स्वागत कर रहे थे। मृग इधर से उधर स्वच्छन्द फिर रहे थे। कहीं समाके चावल सूख रहे थे। कहीं वल्कल वस्त्र फैलाये हुए थे। कही समिधाएँ पड़ी थीं, कही कुशाओं के गट्ठर रखे थे। उस आश्रम को देखकर श्रीराम का मन मयूर नृत्य करने लगा। आश्रम के मुनियों ने जब श्रीराम लक्ष्मण के साथ आते हुए श्री विश्वामित्र जी को देखा तो वे सभी अपने-अपने कार्यों को छोड़ कर उनके स्वागत के लिये दौड़े। सभी ने मुनि को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। मुनि ने आश्रम की कुशल पूछी। सबने मुनि का तिथिगत किया और श्रीराम लक्षणम का भी अतिथि सत्कार किया।

हाथ पैर धोकर श्रीराम लक्ष्मण ने आचमन किया

स्वस्थ होकर समस्त मुनियों को पुनः प्रणाम करके हाथ जोड़कर विश्वामित्र जी से बोले—"भगवन् ! आप आज ही यज्ञ की दीक्षा लीजिये। हम उन राक्षसों को देखना चाहते हैं।"

विश्वामित्र जी ने श्रीराम को बलात् खींचकर अपनी गोद मे बिठाते हुए कहा—"अरे राघव ! तुम इतने बड़े होकर भी अभी भोले-भाले ही बने रहे। बेटा ! यज्ञ की दीक्षा प्रातःकाल ली जाती है। आज हम चलकर आये है। आज विश्राम करेंगे, कल मैं यज्ञ की दीक्षा लूँगा। दो दिन तक मैं मौन व्रत धारण करके यज्ञ करूँगा। कुछ भी अन्य बातें न बोलूँगा। तुम भी ६ दिनों तक बिना सोये यज्ञ की रक्षा करते रहना भला, असावधानी मत करना अच्छा।"

श्रीराम ने कहा—"नही, भगवन् ! आप निश्चिन्त रहें,हम आपके यज्ञ में विघ्न करने वालों को मार भगावेंगे। हम उन्हे यज्ञ मन्डल के पास भी न फटकने देंगे।"

इस प्रकार बातें होते सांयकाल होगया। दूसरे दिन महामुनि बिश्वामित्र ने यज्ञ की दीक्षा ली। दूर-दूर से बहुत से ऋषि मुनि आये। भाँति-भाँति के रंगों से वेदियाँ सजाई गईं। स्थान-स्थान पर जल भरे कलश रखे गये। कुशा,समिधा,यज्ञ पात्र, हवन सामग्री, पत्र, पुष्प, फल तथा अन्य यज्ञीय वस्तुओं से यज्ञ मंडप भर गया। वह एक सजे हुए उपवन के समान प्रीतत होता था। कुशा और समिधाओं की भरमार थी। जब प्रज्वलित अग्नि में आहुतियाँ दी जाने लगी तो धूमकेतु अग्नि अपनी पताका को फहराते हुए स्वर्ग मे देवताओं को भाग बाँटने जाते हुए से दिखाई देने लगे। श्रीराम लक्ष्मण सर संधाने धनुष पर बाण चढ़ाये। सावधानी के साथ मख की रक्षा कर रहे थे।

प्रथम दिन शकुशल समाप्त हुआ। द्वितीय दिन राम बड़ी उत्सुकता से राक्षसों की प्रतीक्षा करते रहे कोई नहीं आया। तृतीय दिन उन्होने बड़ी सावधानी रखी, चतुर्थ दिन भी जब कोई राक्षस नही आया तो वे निराश होगये। पचम दिन उन्होने समझा अब कोई राक्षस न आवेगा। छठे दिन ज्यो ही पूर्णाहुति अवसर आया, त्योंही आकाश मे जल भरे मेघो के समान आते हुए राक्षस दिखाई दिये। शीघ्रता से सावधान होकर श्रीराम ने लक्मल से कहा–लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! देखो, देखो, वे दुष्ट राक्षस आकाश में मंडराने लगे। अवश्य ही ये मुनि के मख मे विघ्न करने आये है, इन्हें मारना हमारा परम धर्म है। तुम सावधान हो जाओ।

यह सुनकर लक्ष्मण बाण तानकर सम्हल कर खड़े हो गये। इतने मे ही यज्ञ कुंड के समीप राक्षसो ने रुधिर की वर्षा की। उसी समय मारीच को लक्ष्य करके बिना फर का बाण राम ने उसको मारा, बाण के लगते ही वह सैकड़ों योजन समुद्र के उस पार लंका में जा पड़ा। राम जी ने उसके प्राण इसलिये नहीं लिये कि उसके द्वारा आगे भी असुर संहारका बहुत कार्य कराना था। दूसरा एक बाण फर सहित मारा, वह सुबाहु की छाती में जाकर लगा, उससे वह मरकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। एक बाण और भी छोड़ा, जिससे बहुत से राक्षस मर गये, बहुत से डरकर भाग गये, बहुत से घायल हुये।

राक्षस के मारे जाने पर विधिवत यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। मुनियों ने विश्वामित्र का अभिनन्दन किया। सभी ने श्रीराम के बल, वीर्य, पराक्रम, ओज, तेज और शूरवीरता की प्रशंसा की। दोनों भाइयों ने तप से सिद्ध हुए मुनि के पाद पद्मों में उसी प्रकार प्रणाम किया, जिस प्रकार अश्विनी कुमारों ने अपने पिता सूर्य के पाद पद्मों में प्रणाम किया था। मुनि ने दोनो राजकुमारों

का सिर सूँघा और स्नेह के साथ कहा–"श्रीराम ! तुम दोनों का कल्याण हो, संसार में सर्वत्र तुम्हारे यश का गान हो। मैंने तुम्हारे ही तेज से इस यज्ञ को पूर्ण किया।"

श्रीराम ने मुनि के पैर पकड़े ही पकड़े कहा–"प्रभो ! हम तो आपके अनुचर हैं, शिष्य है, सब आप अपने तप तेज से ही करते कराते हैं दूसरों का सम्मान बढ़ाते है।"

सूतजी कहते हैं–"मुनियो ! मारीच सुबाहु आदि के मारे जाने पर स्वर्ग में देवताओं ने अत्यन्त ही हर्ष प्रकट किया। श्रीराम के ऊपर दिव्य पुष्पों की वर्षा की। इस प्रकार विश्वामित्र जी का यज्ञ बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न हुआ, बोल दे विश्वामित्र मखरक्षक श्रीराम की जय।"

छप्पय

आये विश्वामित्र राम लछिमन तिनि माँगे।
वचन शूलसम नृपति हिये महँ मुनि के लागे॥
गुरु वसिष्ठ समुझाइ दये मुनिकूँ दोनों सुत।
मुनि के पीछे चले राम लछिमन अति प्रमुदित॥
मिली ताड़का पन्थ महँ, "मारो" गुरु आज्ञा दई।
प्रभु छोड़यो-शर सर्र तें, लग्यो हिये महँ मरि गई॥